श्री वीतरागाय नमः

श्री स्याद्वाद शिक्षण

शिविर नवनीत

(प्रथम खंड)

व्याख्याता

श्री १०८ आचार्य सुमति सागर जी के महाराज के परम शिष्य
क्षुल्लक श्री १०५ सन्मति सागर जी महाराज

प्रकाशक

श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद

वर्णी भवन सागर (म.प्र.)

परम सहायक मन्नूलाल जी बड़कुल

संकलनकर्त्ता— जिनेन्द्र जैन [B. Pharm]

प्राप्ति स्थान—

कार्यालय- स्याद्वाद शिक्षण परिषद
वर्णी भवन मोराजी सागर (म. प्र.)

मूल्य – २) ५० पैसे मात्र

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

मनोभावना

पूज्य वर्णी जी के सुसंस्कार एवं वात्सल्य भावना से ओतप्रोत सागर नगरी एक अपने आप मे गौरव-शालिनी नगरी है । इसमें से अभी तक अनेकों मुनि आर्यिकाये, एवं ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणी बनकर मुक्तिपथ के राही बनचुके हैं, अनेकों बन रहे हैं और अनेको बनेगें। यह नगरी विद्वानों की टकशाल है, आज अनेकों ज्ञानी सामने हैं और सैकड़ों छुपे हुऐ हैं। सच्चे देवशास्त्र गुरुओ के प्रति सभी की आन्तरिक भक्ति हैं युवा वर्ग में धार्मिक उत्साह एवं प्रभावना देखकर मन प्रसन्न होजाता है सभी ने मिलकर एक स्याद्वाद शिक्षण परिषद का गठन किया है, जिसके माध्यम से सैकडो धार्मिक आयोजन हो चुके हैं अभी तक दो स्याद्वाद शिक्षण शिबिर भी लगा चुके हैं और दिनाँक २३-६-७८ से ३०-६-७८ तक एक तृतीय शिबिर का आयोजन भी अभी होने जा रहा हैं। आशा है भविष्य में भी इसी प्रकार सभी धर्म की प्रभावना करते रहेगें।

आपके हाथ में जो यह स्याद्वाद शिक्षण शिविर नवनीत प्रथम खण्ड नामक पुस्तिका हैं, इसमें एक सौ एक प्रश्नो की व्याख्या प्रथम शिविर में की गई थी, इस का सकलन जिनेन्द्र कुमार जैन ने किया है व्याख्या प्राथमिक (धार्मिक) ज्ञान हेतु युवावर्ग को दृष्टि में रखकर की गई है। णमोकार-मन्त्र, देवशास्त्र-गुरु चारित्र तथा निश्चय व्यवहार नय आदि का इसमें विवेचन किया गया है। इस पुस्तक का सशोधन डा० पन्नालाल जी 'साहित्याचार्य' ने किया है इससे यह और भी जनोपयोगी बन सकी है आशा है युवावर्ग इस के माध्यम से अपने अन्दरज्ञान दीप प्रकाशित करेगें। अल्प बुद्धि होने के कारण इसकी व्याख्या में अनेक त्रुटियाँ रहीं होगीं अतः ज्ञानीजन शोध कर मनन करे एवं मुझे सावधान करें ताकि आगे सुधार किया जासके।

क्षु० सन्मति सागर

प्रकाशकीय

आपके हाथ में यह स्याद्वाद शिक्षण शिविर नवनीत (प्रथम खण्ड) पुस्तिका है। इसकी व्याख्या पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक सन्मतिसागर जी महाराज द्वारा प्रथम शिविर में की गई थी। पुस्तक को प्राथमिक ज्ञान हेतु उपयोगी समझ कर हमारी परिषद् ने तृतीय शिविर के शुभ अवसर पर प्रकाशित कर शिक्षार्थियों एव सामान्य जन के लिए उपयोगी बनाने का प्रयास किया है।

पुस्तक में णमोकार मंत्र व देव शास्त्र गुरु का स्वरूप निश्चय व व्यवहार नय स्याद्वाद व अनेकान्त आदि अनेक विषयों पर सरल व सुबोध शैली में विवेचन किया गया है।

द्वितीय स्याद्वाद शिक्षण शिविर के उद्घाटन समारोह के शुभ अवसर पर श्री मन्नूलाल जी बड़कुल (बिलेहरा वालों द्वारा पुस्तक प्रकाशन हेतु १००१) की राशि प्राप्त हुई। हम परिषद् की ओर से उनके आभारी है। पुस्तक संकलनकर्त्ता जिनेन्द्र जी [B. Pharm] का परिश्रम अति प्रशंसनीय है। सशोधन कार्य मे ख्याति प्राप्त प्रखर वक्ता डा० प० पन्नालाल जी 'साहित्याचार्य' द्वारा जो सहयोग प्राप्त हुआ है वह प्रशॅसनीय है। परिषद उनकी अत्यन्त आभारी है। प्रेस कापी व प्रूफ रीडिंग में सहयोगी रहे हैं ब्रह्मचारी जिनेन्दकुमार जी कु० भारती एव राजकुमारी। परिषद इन सवका आभार मानती है।

आशा है पुस्तक का समादर हर घर में होगा, साथ ही साथ स्थानीय एवं अन्य स्थानों पर लगने वाले आगामी शिविरों में उपयोगी होगी एवं भावी पीढ़ी को मार्ग दर्शिका वन मुक्ति पथ की ओर अग्रसर कराने में सहायक वनेगी।

गुलाबचंद सराफ (पटना वाले)

आद्य मिताक्षर

श्री १०५ क्षुल्लक सन्मतिसागर जी सागर में युवा पीढ़ी के प्रेरणा सूत्र सिद्ध हुए है। इन्होंने धार्मिक क्रियाओं से उपेक्षा करने वाले युवाओं को सम्बोधित कर जागृत किया है। उसी के फलस्वरुप अनेक युवा इनके ससर्ग में आये। इनकी जागृति को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से सागर में इस वर्ष दीपावली के अवकाश के समय एक शिक्षण शिविर का आयोजन किया गया था। प्रारम्भिक तत्व ज्ञान कराने के उद्देश्य से उक्त क्षुल्लक जी ने १०० प्रश्न छाँटकर उनके उत्तर के रुप में छात्रों को संबोधित किया था। शिविर में प्रश्नो के जो उत्तर छात्र छात्राओं को लिखाये गये थे उन्हीं उत्तरों को परिष्कृत कर 'नवनीत' के रूप में प्रकाशित किया गया है।

वर्तमान में कुछ ऐसी धारा प्रवाहित हुई हैं जो व्यवहार को सर्वथा अभूतार्थ बतलाकर उसे त्याज्य बतलाती है। व्यवहारिक क्रियाओं को सर्वथा जड की क्रिया बतलाकर उनका मखौल उड़ाती है। निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर बतलाकर मात्र उपादान की मान्यता को प्ररूपित करती है। पुण्य को अधर्म कहकर पुण्य क्रियाओं की ओर से मनुष्य को अनुत्साहित किया जाता है।

जो निश्चय के यथार्थ रुप को न जानकर निश्चयाभास को निश्चय समझते है उनके विषय में समयसार के उच्चतम टीकाकार अमृतचंद्र स्वामी ने अपने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रन्थ में लिखा है—

> निश्चय मबुध्य मानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
> नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः॥

जो निश्चय को न जानकर निश्चयाभास को ही निश्चय मानता है वह बाह्य क्रियाओ के करने में आलसी बालक अज्ञानी है और प्रवृति रुप चारित्र को नष्ट करता है। आचार्यों का तो उपदेश है कि जो व्यवहार और निश्चय को यथार्थ रुप से जानकर मध्यस्थ होता है. अर्थात किसी एक का हठग्राही नहीं होता है वही जिनदेशना के पूर्ण फल को प्राप्त होता है।

जिममति की प्रवृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए निश्चय और व्यवहार – दोनों का परिज्ञान आवश्यक है, क्योंकि निश्चय के बिना तत्त्व नष्ट हो जाता है और व्यवहार के बिना तीर्थ (धर्म की अम्नाय) नष्ट हो जाता है निश्चय और व्यवहार यथार्थ स्वरूप तथा प्रयोजन को न समझने से नगर – नगर में विसंवाद की स्थिती उत्पन्न होगई, तथा समाज मे विघटन की स्थिती उत्पन्न होगई है। अतः आवश्यक है कि इन दोनों का यथार्थ स्वरूप समझ कर उनके अनुसार प्रवृत्ति करना चाहिये। जिन आचार्यों ने व्यवहार को साधन और निश्चय को साध्य कहा है। जिन आचार्यों ने आत्मा में कर्मोदय के निमित्तसे विविध भावो की उत्पत्ति का वर्णन किया है आत्मा को कर्मों काकर्त्ता और भोक्ता कहा है एवं पुण्य को धर्म कहा है उनकी नय विवक्षा को समझा जाय। और जिन शिष्यो को जिस स्थिति मे पुण्य क्रियाओ के करने का उपदेश दिया है उनके लिये वह कार्यकारी है या नहीं इस का विचार करना चाहिये। व्यवहार-नय किसके लिये कार्य कारी है और निश्चय-नय किस के लिये? इस का विचार रखना प्रत्येक उपदेशक को आवश्यक है।

कुन्द कुन्द स्वामी के समयसारादि ग्रन्थों की अध्यात्म धारा इस भारत वर्ष मे दो हजार वर्ष पूर्व से प्रवाहित हो रही है पर जो विसंवाद की स्थिती आज उत्पन्न हुई है वह इतिहास में कभी देखने मे नहीं आयी परमार्थ से कुन्द-कुन्द के ग्रन्थों मे निश्चयैकान्त या व्यवहारैकान्त की गन्ध भी नही है उन्हो ने निश्चय पक्ष का वर्णन कर ने के बाद व्यवहार पक्ष का भी समुल्लेख किया है और व्यवहार पक्ष का वर्णन करने के बाद निश्चय पक्ष का भी उल्लेखकिया हैदोनो का उल्लेख मिलने से श्रोता दिगभ्रान्त नहीं होपाता परन्तु आज के कुछ धर्मोपदेशक एक निश्चय का ही पक्ष लेकर उपदेश करते हैं और कुछ व्यवहार का ही पक्ष लेकर व्याख्यान करते हैं उसके फलस्वरूप विसंवाद उत्पन्न होता है और श्रोता दिग्भ्रान्त हो जाता है।

जिनागम मे प्रसङ्गवश निश्चय और व्यवहार. दोनो का वर्णन मिलता उसकी सगति विवक्षा और दृष्टिकोण को समझने-समझाने से ही हो सकती है। स्याद्वाद और अनेकान्त के सिद्धान्त को मात्र व्याख्यान का विषय न बनाकर जीवन मे उतारने का प्रयत्न किया

जाय तो विसंवाद की स्थिति समाप्त होने में विलम्ब न लगे।

सागर समाज ने एक वर्ष के भीतर जो तीन बार शिक्षण शिविर का आयोजन किया है उसका एक मात्र यही उद्देश्य है कि हम स्याद्वाद की शैली से तत्व को समझे तथा उसका प्ररूपण करें। इन शिविरों का सुफल भी हमारे देखने में आ रहा है कि यहाँ विघटन की स्थिति को कोई प्रश्रय नहीं मिला है।

श्री १०५ क्षुल्लक सन्मतिसागर जी ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया है उसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। एक शिविर ही नहीं, उन्होंने स्याद्वाद शिक्षण शिविर के माध्यम से नगर में अनेक रात्रि शालाओं की स्थापना कर बालक बालिकाओं को धर्म शिक्षा का स्वर्ण अवसर भी प्रदान किया है। इन रात्रि शालाओं में प्रशिक्षित युवा छात्र, अवैतनिक रूप से बालक बालिकाओं को धर्म शिक्षा देते हैं तथा सैकड़ों की संख्या में बालक बालिका शिक्षा ग्रहण करते हैं।

यह "नवनीत" प्रथम शिक्षण शिविर का है। द्वितीय शिक्षण शिविर का 'नवनीत" भी प्रकाशित हो चुका है। हम आशा करते हैं कि आत्म कल्याण के इच्छुक मनुष्य इनका स्वयं स्वाध्याय करेंगे तथा अपने सुकुमार मति बालक-बालिकाओं को इनके स्वाध्याय के लिए प्रोत्साहित करेंगे।

इन पुस्तको के प्रकाशन में जिन महानुभावों ने सहयोग दिया है मै उनके श्रुत प्रचार की भावना का आदर करता हूं।

विनीत—

पन्नालाल जैन

प्राचार्य गणेश दि० जैन संस्कृत महाविद्यालय एवं
अधिष्ठाता श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद् सागर

इस भौतिक युग में जीव दुखी हैं दुख का कारण हैं भोग के भाव वासना और कषायों की प्रबलता सभी सुख चाहते हैं; किन्तु सुख का उपाय नहीं करते जिन्हे सुखी होना है। वे अपनी वासनाओ को कम करे। कषाओं की प्रबलता मे धर्म की गॅध नहीं आ सकती। जगत को जानते हैं किन्तु जानने वाले को नहीं जान पाये उसे जानने के लिए जिन वाणी का जानना या अभ्यास करना होगा। सबसे पहले पाप से डरें; पाप की क्रियाये छोडना पडेगी पुण्य के काम करने का उद्यम रखना होगा। पुण्य के कार्य करने वाला ही धर्मी है।पुण्य रूप भाव ही तो धर्म है। द्रव्य दृष्टि के नाम पर या उसकी आड मे पुण्य का बलिदान नहीं किया जा सकता। सभी अनुयोग उपादेय हें सभी धर्म की व्याख्या करते हैं। जरूरत है अध्ययन की।

पुण्य हेय नहीं है हमारी भूमिका मे पुण्य ही उपादेय हैं पुण्य भी शुभ कर्म के उदय में किया जा सकता है। द्रव्य दृष्टि का अर्थ यह नहीं है कि सब कुछ जड क्रिया कहकर उपहास करदें? हर भूमिका का धर्म अलग है। गृहस्थ धर्म श्रावक धर्म मुनि धर्म इन तीनो में सयम और त्याग की महिमा है; चारित्र के बिना मनुष्य का जीवन व्यर्थ है, जिसका व्यवहार ही ठीक नहीं है उसका जीवन कहॉसे ठीक हो सकेगा।

वस्तु का स्वरूप भी भूमिका के अनुसार ही समझना और समझाना होगा। इसके लिये अनुयोगों की कथन पद्धति समझना होगी। इन्हीं निमित्तों में श्री स्याद्वाद शिक्षण शिविर का आयोजन किया है। पूज्य क्षु० श्री सन्मति सागरजी महाराज का सानिध्य एक महान निमित्त है। वर्तमान में आचार्य रत्न पूज्य श्री १०८ मुनिवर विद्यासागर जी महाराज श्री का दर्शन मात्र पापों का क्षय करने वाला है। जो आगम में मुनि का स्वरूप है वह उनमें पूर्ण रुप से पाया जा रहा है।

हम सब इस अनेकान्त वाणी को समझें। स्याद्वाद की महिमा जाने और तद्रुप अपना जीवन बनाने का पुरुषार्थ करें।

यह सब धर्म प्रभावना को जानता है, वह जीव ही मोक्ष मार्ग की रीति पहिचानता है अभी तक भोग छूटे नहीं है। पाप से हटे नहीं हैं पहले इनसे हटो फिर आगे बढ़ो। घर घर जिनवाणी का प्रचार और प्रसार करो। णमो लोए सव्व साहूणं

सागरमल जैन. विदिशा

श्री वीतरागाय नमः

श्री स्याद्वाद शिक्षण शिविर "नवनीत"

प्रथम-खण्ड

卐 मंगलाचरण 卐

हो इष्ट में सफलता सबको दिलाते,
आशीष दो जिनवरा निज रूप ध्याते।
स्याद्वाद का जगत में वर हो प्रचार,
ऐसा मुनीन्द्र मन में मम है विचार॥

प्रश्न १– णमोकार मन्त्र किसे कहते हैं, और उसकी क्या महिमा है!

उत्तर—जिस मंत्र में परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है उसे णमोकार मंत्र कहते हैं। णमोकार मंत्र जैन धर्म का अनादि सर्वोच्च मँगल मंत्र है। णमोकार मंत्र का शुद्ध रूप इस प्रकार है।

णमो अरहंताणं	अर्हन्तों को नमस्कार
णमो सिद्धाणं	सिद्धों को नमस्कार
णमो आइरियाणं	आचार्यों को नमस्कार
णमो उवज्झायाणं	उपाध्यायों को नमस्कार
णमो लोए सव्वसाहूणं	लोकवर्ती सर्व साधुओं को नमस्कार

एसो पंच णमोयारो ; सव्व पावप्पणासणो ।
मगलाणं च सव्वे सिं ; पढमं हवइ मंगलं ॥

यह पंच नमस्कार मंत्र सब पापों का विनाश करने वाला है और समस्त मंगलों में प्रथम मंगल है ।

विशेष—इस मंत्र मे प्रयुक्त प्रथम पद अरहंत है ; इसके तीन पाठ उपलब्ध होते हैं । "ये हैं अरहंत ; अरिहन्त ; अरुहन्त"। प्रथम शब्द अरहंत का अर्थ होता है अतिशय पूज्य । तीर्थंकर भगवान की गर्भ जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान एवं निर्वाण । इन पाँच कल्याणकों के समय देवनाओं द्वारा जो पूजा और प्रभावना की जाती है, वह देव असुर एवं मानव द्वारा की जाने वाली पूजा से अधिक विशिष्ट "अतिशय" युक्त होती है। अत सातिशय पूजा के पात्र होने के कारण अरहंत कहे जाते हैं।

दूसरा पाठान्तर "अरिहन्त" है । अरि अर्थात् शत्रु एवं उसके हंत अर्थात् नाश करने से "अरिहन्त" सज्ञा प्राप्त होती है । अरि का अर्थ होता है "अष्ट कर्मों का राजा मोह"। अत नरक तिर्यंच मनुष्य एवं देव इन पर्यायों मे जन्म लेने का एवं उससे उत्पन्न होने वाले दुख का मूल कारण मोह है अत मोह को अरि अर्थात शत्रु कहा गया है।

यह मोह कर्म सभी कर्मों का राजा है इसके नष्ट हो जाने पर अन्य शेष कर्मों मे जन्म मरण की परम्परा रूप संसार उत्पादन की शक्ति नही पाई जाती है तथा मोहनीय कर्म के नष्ट होने पर ज्ञानावरण दर्शनावरण एवं अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों का एक साथ नाश हो जाता है । अत मोह कर्म को ही "अरि" कहा गया है ।

तृतीय पाठान्तर "अरुहन्त" है ।

अरुह का अर्थ होता है "जन्मा" । अत: रागद्वेष रुपी शत्रुओं का नाश हो जाने से दग्ध बीजवत जिनकी भावी जन्म संतति अर्थात पुनर्जन्म समाप्त हो गया है । उन्हें अरुहन्त कहते हैं ।

इस मंत्र मे प्रयुक्त "लोए" और "सव्व" अन्त्य दीपक है। अर्थात अर्थ ग्रहण करते समय ये दोनों शब्द प्रत्येक पद के प्रारम्भ मे जोड़ दिये जाते हैं। अतः णमोकार मन्त्र में लोक के समस्त त्रिकाल वर्ती अरहन्त; सिद्ध; आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं को नमस्कार किया गया है।

यह पंच नमस्कार मन्त्र ध्यान सिद्धि का कारण है इस लिए कहा भी है—

पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठी वाचयाणं अण्णं च गुरुवए सेण ॥

यह परमेष्ठी वाचक मन्त्र ३५ अक्षर का है।

यह मन्त्र १६; ६; ५; ४; २ एवं १ अक्षर के मन्त्र में परिवर्तित किया जा सकता है। ३५ अक्षर का पूर्ण मन्त्र लिखा जा चुका है। सोलह अक्षर के मन्त्र में परिबर्तित करने पर इसका निम्न रूप होगा– अरहन्त; सिद्ध; आयरिया; उवज्झाया, साहू।

छह अक्षरों मे परिवर्तित करने पर उसके निम्नलिखित तीन रूप होंगे।

१— अरहन्त सिद्ध (नामपद) — अरहन्त; अरहन्त वाचक
२— अरहन्त सि; सा, — सि– सिद्ध, सा– साधु वाचक– आचार्य, उपाध्याय साधु
३— "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" —

पांच अक्षरों के मन्त्र मे बदलने पर इसका निम्न रूप होगा— अ; सि, आ, उ, सा (प्रत्येक पद का प्रथम अक्षर)

चार अक्षरों के मन्त्र मे बदलने पर इसके निम्न—लिखित दो रूप होंगे—

१— अरहन्त (नामपद) — अ— अरहन्त,
२— अ, सि, साहू — सि— सिद्ध; साहू—साधू, आचार्य, उपाध्याय, साधू

दो अक्षरों के मन्त्र में बदलने पर इसके निम्न दो रूप होंगे —

१— सिद्ध (नामपद) अ, ॐ। २— ॐ ह्रीं।

एक अक्षर के मन्त्र में बदलने पर इसके निम्न दो रूप होगे अ; ॐ

ॐ शब्द की सिद्धी :—

अरहंता असरीरा आमरिया तह उवज्झया मुणिणो।
पढमक्खरणिप्पण्णो ओंकारो पंच परमेट्ठी ॥

अरहन्त का आदि अक्षर अ+अशरीरी (सिद्ध) का प्रथम अक्षर
अतः अ+अ=आ (दीर्घ संधि)
आ+आ (आचार्य का आदि अक्षर) = आ (दीर्घ संधि)
आ+उ (उपाध्याय का आदि अक्षर) = ओ (गुण संधि)
ओ+म् (मुनि का आदि अक्षर) = ओऽम् = ॐ।

प्रश्न २— परमेष्ठी किसे कहते हैं!

धर्म स्थान मे जिनका पद महान होता है जो गुणों में सर्वश्रेष्ठ होते है एवं चक्रवर्ती राजा इन्द्र व देव आदि भी जिनके चरणों की वंदना करते है इन्हे "परमेष्ठी" कहते है।

"परमे पदे तिष्ठति इति परमेष्ठी उच्यते" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो परमपद मे स्थित हो उसे परमेष्ठी कहते हैं। यहां परम शब्द का अर्थ है "सर्वोच्च"। जो मानव जीवन मे परम लक्ष्य को पा चुके हैं और जो उसे प्राप्त करने की साधना अवस्था में गुजर रहे हैं वे ही एक जीवंत प्रतीक के रूप मे हमारे इष्ट की प्राप्ति मे सहायक हो सकते हैं एक संसारी आत्मा किस तरह से अपनी आत्म शक्ति के क्रमिक विकास द्वारा पूर्ण आत्मजयी बन जाता है इसकी साकार मूर्ति परमेष्ठी मे मूर्तिमान हो उठती है जिनके दर्शन से हमारे रोम रोम मे भी साधना की लहर उठने लगती हैं और अपने परम इष्ट त्रिकाल अबाधित आत्म सुख के प्राप्त करने की प्रेरणा जागृत हो उठती

है । परमेष्ठी का स्मरण मात्र साधना की राह में चलते हुए एकाकी साधक के अन्दर मील के पत्थर के समान प्रेरक उत्साह का संचार कर देता है यही कारण है कि परमेष्ठी को जैन दर्शन में मानव जीवन के परम इष्ट की प्राप्ति में सातिशय सहायक स्वीकार किया गया है ।

प्रश्न ३— परमेष्ठियों के नाम ?

उत्तर—परमेष्ठी ५ होते हैं इसलिए इन्हें पंच परमेष्ठी कहते हैं ।

१ अरहन्त परमेष्ठी
२ सिद्ध परमेष्ठी
३ आचार्य परमेष्ठी
४ उपाध्याय परमेष्ठी
५ साधु परमेष्ठी

ये पंच परमेष्ठी मंगल स्वरूप लोकोत्तम लोक में शरण प्रदाता एवं ध्यान सिद्धि के मूल हेतु हैं ।

प्रश्न ४— अरहन्त परमेष्ठी किन्हें कहते हैं ?

उत्तर—जो चार घातिया कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय; अंतराय) को नष्ट कर लोक अलोक को प्रकाशित करने वाला केवल ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तथा समवशरण में विराजमान होकर दिव्य ध्वनि के द्वारा सब जीवों को कल्याणकारी उपदेश देते है वे "अरहन्त" कहलाते हैं । ये अष्टादश दोषों से रहित ४६ मूलगुण एवं अनन्त उत्तर गुणों से सहित हैं । ये वीतराग, सर्वज्ञ एवं "हितोपदेशी" होते हैं । इन्हें जीवन्मुक्त भी कहा जाता है ।

प्रश्न ५— सिद्ध परमेष्ठी किन्हें कहते हैं ?

उत्तर—जो ज्ञानावरणादि समस्त कर्मों से मुक्त होकर ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग (सिद्ध शिला) मे जाकर विराजमान हुए हैं । जिनके आत्मप्रदेश चरमशरीर से कुछ कम

अवगाहना वाले पुरुषाकार रूप में अवस्थित हैं, जो लोक एवं अलोक मे मात्र ज्ञाता दृष्टा एवं अष्ट मूलगुण एवं अनंत उत्तर गुणों से शोभित है वे सिद्ध परमेष्ठी कहलाते हैं।

प्रश्न ६— आचार्य परमेष्ठी किन्हें कहते हैं?

उत्तर—जो सम्यग्दर्शन; ज्ञान एवं चारित्र की प्रखरता से मुनि संघ के अधिपति है, तथा जो पंचाचारों का स्वयं पालन करते हुए अन्य संघस्थ मुनिराजों से कराते हैं तथा जो दीक्षा शिक्षा एवं प्रायश्चित आदि देते हुए भी स्वसमय (शुद्ध आत्मा) तथा पर समय के पूर्ण ज्ञाता हैं उन्हे आचार्य परमेष्ठी कहते हैं। ये ३६ मूलगुणों से मंडित होते हैं।

प्रश्न ७ – उपाध्याय परमेष्ठी किन्हें कहते हैं?

उत्तर—रत्नत्रय रूप धर्म में जिनकी सतत प्रवृत्ति हो रही है, जो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी; इन्द्रियजयी तथा द्रव्यश्रुत और भाव-श्रुत के पारगामी अधिकारी तत्ववेत्ता हैं एवं अन्य ज्ञान-पिपासु श्रमणों एव श्रावकों को सतत ज्ञान दान देने में तत्पर रहते हैं उन्हें उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं इनके २५ मूलगुण होते हैं।

प्रश्न ८ – साधु परमेष्ठी किन्हें कहते हैं?

उत्तर—विषय कषाय से विरक्त होकर जिन्होंने सम्पूर्ण संग (परिग्रह) का त्याग कर दिया हैं और जो सदैव ज्ञान ध्यान तप मे तल्लीन रहकर मोक्ष मार्ग स्वरुप सम्यक् चारित्र का निर्दोष पालन करते हैं; उन्हे साधु परमेष्ठी कहते हैं ये २८ मूल गुणों से विभूषित होते हैं।

प्रश्न ९ – लोक में मंगल कितने हैं?

उत्तर—लोक में चार मंगल होते हैं:—

अरहँता मंगलं	—	अरहंत मंगल है।
सिद्धा मंगल	—	सिद्ध मंगल है।
साहू मँगलं	—	साधु मंगल है।
केवलि पण्णतो धम्मो मंगलं	—	केवलि प्रणीत धर्म मंगल है।

इस पाठ में चार प्रकार के मंगलों में अरहंत भगवान सर्वप्रथम मंगल माने गये हैं। इसका कारण यह है कि अरहंत भगवान के द्वारा साक्षात मोक्षमार्ग रूप धर्म का प्रवर्तन होता है एवं उन्हीं के द्वारा यह ज्ञान होता है कि सिद्ध भगवान भी मंगल स्वरूप हैं। अत: उन्हें द्वितीय क्रम में रखा गया है। मंगल रूप साधु को क्रम से तृतीय नंबर पर रखा गया है इसका कारण है कि यहाँ साधु में ही आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठी को गर्भित किया गया है। वे भी रत्नत्रय रूप धर्म साधना मे साक्षात् मोक्षमार्ग का अनुगमन कर रहे हैं, एवं लोक में अरहंत की अपेक्षा सर्वकाल मे सुलभ रहते हैं और चौथे नंबर में केवली भगवान द्वारा प्रणीत धर्म को मंगल स्वरूप कहा गया है क्योंकि वह हमेशा विद्यमान रहता है। यह क्रम एक विशेष तथ्य को भी प्रगट करता है कि अरहंत, सिद्ध एवं साधु रूप मंगज का किसी समय विशेष एवं स्थान विशेष मे अभाव भी हो सकता है परन्तु धर्म अपनी उसी गरिमा से सदाकाल प्रवर्तमान रहता हुआ जीवों का कल्याण करता रहता है।

मंगल शब्द की नियुक्ति दो प्रकार से की जा सकती है पहली (मंग) अर्थात सुख को "लाति" अर्थात देता है; उसे मंगल कहते है अथवा मन्त्र अर्थात पाप उसे "गालयति" अर्थात क्षीण या समाप्त करता है उसे मंगल कहते है। अत: मंगल शब्द का शाब्दिक अर्थ हुआ जो विघ्नो का विध्वंस करके सुख रूप कार्य की सिद्धि में सहायक हो उसे मंगल कहते हैं। वास्तव मे ऊपर जो मंगल स्वरूप बतलाये गये है उनका चिन्तवन आदि करने से हमारे परिणामों में जो विशुद्धता आती है उससे पाप कर्म का अनुभाग क्षीण होकर पुण्य कर्म का अनुभाग बंध प्रबल हो जाता है। जिसमें निर्विघ्न रूप से हमारे कार्य की पूर्णता हो जाती है। इसलिए प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ मे मंगल करना आवश्यक बतलाया गया है।

इस प्रकार कार्य के प्रारम्भ में मंगल करने से हमारी विनय की भावना का प्रगटीकरण, शुभ पुण्य कर्म का बंध

निर्विघ्न कार्य पूर्णता एवं पूर्व परम्परा के प्रति सम्मान की भावना पैदा होती है जो एक सत्य साधक मानव के लिए अत्यन्त अनिवार्य है इसीलिए प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ मे मंगल करना आवश्यक बतलाया गया है।

प्रश्न १०– लोक में उत्तम कौन कौन हैं?

उत्तर— लोक मे उत्तम ४ हैं:—

१ अहन्ता लोगुत्तमा — अरहंत लोकोत्तम हैं।
२ सिद्धा लोगुत्तमा — सिद्ध लोकोत्तम हैं।
३ साहू लोगुत्तमा — साधु लोकोत्तम है।
४ केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा– केवलि प्रणीत धर्म लोकोत्तम है।

इस लोक मे सर्वोत्तम वह है जिन्होंने संसार रूपी वृक्ष के बीज को समाप्त कर दिया है जिससे इस संसार सागर मे होने वाली पीडा का अन्त होकर परम शुद्ध आत्मा के संवेदन रूप अनन्त सुख का लाभ होता है ऐसे ही साधन एव साध्य को प्राप्त करने वाली महान आत्मा मे एव उनके द्वारा प्रणीत धर्म जो ससार से उभरने के लिए तीर्थ रूप मे प्रवर्तित हो रहा है वही इस लोक मे एक सर्वोच्च उत्तम है।

प्रश्न ११– किन किन की शरण जाना चाहिए?

उत्तर— लोक में निम्नलिखित की शरण मे जाना चाहिए—

१ अरहंते सरणं पव्वज्जामि — अरहंतों की शरण लेता हूं।
२ सिद्ध सरणं पव्वज्जामि — सिद्धों की शरण लेता हूं।
३ साहू सरणं पव्वज्जामि — साधुओं की शरण लेता हूँ।
४ केवलि पण्णतं धम्मं सरणं पव्वज्जामि — केवलि प्रणीत धर्म की शरण लेता हूँ।

चारों गतियों में भ्रमण करने से होने वाली अनिर्वचनीय वेदना को जैसे ही यह मानव याद करता है अपनी खोई

हुई स्मृतियों को चैतन्य करता है। उस समय अनन्त काल का इतिहास एक क्षण में इसकी आंखों के सामने घूम जाता है। एक श्वास के अठारहवें भाग में जन्म होने से उत्पन्न होने वाली वेदना की स्मृति मात्र से सिहर उठता है। नरक की उस भूख एवं प्यास की अपार पीड़ा जिसकी तृप्ति के लिए तीन लोक का अनाज एवं महासागर का जल भी अपर्याप्त होता है फिर भी एक कण अन्न का एवं एक भी बूँद पानी प्राप्त नहीं हो सकता ऐसी पीड़ा के सोचने मात्र से इसकी वर्तमान भूख एवं प्यास समाप्त हो जाती है। उस शरीर की स्मृति मात्र से जो पारे के समान खंड खंड होकर भी पुनः पुनः जुड़ जाता है उस दुख के पुनः पुनः पाने के लिए। इसके शरीर में रोमांच उत्पन्न हो जाता है; वह गति जिसमें असीम वैभव के मध्य में उपस्थित रहते हुए भी आत्मतृप्ति का एक अंश नहीं पा सका। आयु की अंतिम घड़ियों में पुनः उसी तृष्णा से एकेन्द्रिय आदि जड़ जंगम काय में उत्पन्न हुआ और किसी पुण्योदय से जब पंचेन्द्रिय देह में उत्पन्न हुआ उस समय भी कभी मनरहित और कभी मनसहित होकर पुनः पुनः मरण का अनत दुख उठाया और जब किसी महान पुण्योदय से मानव देह में जन्म लिया तो आयु का अधिकांश समय केवल उदर एवं विषय पोषण की पूर्ति में बिता दिया और वृद्धावस्था की ओर क्रमशः बढ़ने लगा; शक्ति क्षीण होने लगी; आँखों से कम दिखने लगा; पेट की भूख मिटाने के लिए भी मुंहताज होने लगा सारा संसार इसे असार महसूस होने लगा तब असहाय होकर तीव्र दुख एवं दाह से छटपटाया हुआ यह मानव कहीं शरण पाने के लिए तड़फने लगा ऐसे दारुण दुख के समय इस जीव को इस ससार में शरण देने वाला कोई नहीं तब भी अरहन्त; सिद्ध; साधु एवं केवली प्रणीत धर्म ही इस जीव को एक मात्र शरण प्रदाता है; काल के रहते हुए भी अन्तकाल को सार्थक बना देने वाले हैं।

इसलिए सँसार के दुखों की निवृत्ति के लिए एवं इस अथाह दुख सागर से उभरने के लिए प्राणी मात्र को केवल अरहन्त; सिद्ध; साधु एवं केवलि भगवान प्रणीत धर्म ही एक मात्र शरण है। संसार रूपी महा भयानक अटवी में विचरने

वाले मृग शावक रूप मानव के लिए ये चारों ही एक मात्र सहारा हैं। प्रत्येक को इनकी शरण लेना चाहिए। मैं भी इनकी शरण लेता हूं।

प्रश्न १२— अरहन्त परमेष्ठी के ४६ मूलगुण किस प्रकार हैं?

उत्तर— अरहन्त भगवान के ४६ मूलगुण होते हैं ये अरहन्त परमेष्ठी दो प्रकार के होते हैं—

१ सामान्य अरहन्त एवं   २ तीर्थंकर अरहन्त

सम्पूर्ण मूलगुण और धर्म तीर्थ का प्रवर्तन तीर्थङ्कर अरहन्तों में ही पाया जाता है, अन्य विशेषताएं न्यूनाधिक रूप में पायी जाती हैं किन्तु आत्म गुणों की अपेक्षा सदृशता होती है। दश अतिशय जन्म के, दश केवल ज्ञान के; और चौदह देवकृत इस प्रकार ३४ अतिशय; ८ प्रातिहार्य एवं ४ अनन्त चतुष्टय, मिलकर अरहन्त भगवान के ये ४६ मूलगुण होते है।

प्रश्न १३— जन्म के १० अतिशयों के नाम?

उत्तर— अलौकिक, आकर्षक एवं विशिष्ट कार्यों को अतिशय कहते है। अथवा सर्व साधारण में न पाई जाने वाली अद्भुत अनोखे प्रभाव को अतिशय कहते है।

भगवान के जन्म लेने के साथ ही उनके शरीर में निम्नलिखित १० अतिशय विद्यमान रहते हैं:—

१ अत्यन्त सुन्दर, मनोहर एवं शांत आकर्षक रूप।

२ शरीर में निर्कीर्ण होने वाली मन भावनी सुगन्ध।

३ शरीर में स्वेद की अनुत्पत्ति होना।

४ शरीर में मलमूत्र का अभाव होना।

५ वाणी में सत्य , शिव ; कल्याण , सौन्दर्य एवं परिमितता का अद्भुत सामँजस्य ।

६ शरीर में अलौकिक अतुल्य शक्ति।

७ शरीर में श्वेत रुधिर प्रवाहित होना।

८ शरीर में १००८ शुभ लक्षणों का होना।

९ शरीर मे समचतुरस संस्थान होना।

१० वज्रवृषभनाराच संहनन।

मूलतः ये अतिशय उस उत्कृष्ट पुण्य के कारण होते हैं जिसके प्रभाव से तीर्थंकर नामकर्म की प्रवृत्ति का बंध होता है। महान पुण्यशाली व्यक्तित्व के लिए यह सब कुछ बिल्कुल सामान्य है भले ही हमें अद्भुत प्रतीत होते हैं।

प्रश्न १४– केवलज्ञान के १० अतिशयों के नाम ?

उत्तर— जिस समय भगवान को साधु अवस्था मे महान केवलज्ञान प्राप्त होता है उस समय उनकी उपस्थिति मात्र से आसपास का वातावरण भी प्रभावित होता है एवं उसमें निम्न-लिखित १० प्रकार का प्रभाव परिलक्षित होने लगता है:—

१ भगवान के चारों ओर १००—१०० योजन तक सुकाल की उत्पत्ति (१ यो.=४ कोष)

२ भगवान का आकाश मे गमन होना ।

३ भगवान का एक ही मुख का चारों दिशाओं में प्राणियों को दिखाई देना (न कि चार मुख होना) जिससे चार मुखों का चारों दिशाओं में आभास होना।

४ उनके आसपास किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं होती।

५ भगवान के ऊपर या उनकी सभा मे विद्यमान प्राणी के ऊपर किसी प्रकार के उपसर्ग का न होना। यदि हो रहा हो तो केवलज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही वह बंद हो जावेगा।

६ कवलाहार अर्थात ग्रास वाले अन्न आदि के आहार का अभाव हो जाना। उनके स्वभाव से ही केवल नोकर्माहार रूप शुभ

सूक्ष्म पुद्गल वर्गणाओं का ग्रहण होता रहता है।

७ सर्वज्ञता का उद्भव।

८ शरीर के नख, एवं केशों की वृद्धि रुक जाना।

९ आंखों की पलकों का झपकना बँद हो जाना।

१० शरीर की छाया न पड़ना।

प्रश्न १५- देवकृत १४ अतिशयों के नाम ?

उत्तर— तीर्थङ्कर भगवान को केवल ज्ञान उत्पन्न होते ही त्रिलोक में खुशी का महासागर उमड पडता है। प्राणी मात्र मे अद्भुत प्रेम का संचार हो जाता है एवं देवताओं के द्वारा विशेप रूप से निम्नलिखत १४ अतिशय सम्पन्न किये जाते हैं:—

१ भगवान की दिव्यध्वनि की भापा अर्धमागधी होती है।

२ प्राणी मात्र में प्रेमभाव का संचार हो जाता है जिसके कारण शेर; बकरी, श्याल; नेवला एक ही साथ विचरते हुए भगवान का उपदेश श्रवण करते हैं।

३ सम्पूर्ण दिशाएं निर्मल हो जाती हैं।

४ अनात आकाश निर्मल हो जाता हैं।

५ एक साथ छहों ऋतुओं का शुभागमन।

६ वसुधा का काँच के समान स्निग्ध एवं निर्मल हो जाना।

७ गमन करते समय भगवान के पादाम्बुज के नीचे सुवर्ण पदम का निर्माण होना।

८ गगन का जयनाद से निनादित हो उठना।

९ मन्द एवं सुरभित वायु का वहना।

१० गन्धोदक अर्थात् सौरभ युक्त सलिल की वृष्टि होना।

११ वायु कुमार देवों की विक्रिया से पृथ्वी का कंकड़ पत्थर एवं कंटक रहित हो जाना।

१२ भगवान के आगे आगे धर्मचक्र का प्रवर्तन होना।

१३ सम्पूर्ण सृष्टि का आनंद से सराबोर हो जाना।

१४ समवशरण मे धर्मचक्र के पीछे अष्ट मंगल द्रव्यों का साथ चलना।

प्रश्न १६– अष्ट प्रातिहार्यों के नाम ?

उत्तर— विशिष्ट अतिशय युक्त चीजों को प्रातिहार्य कहते हैं। अरहन्त भगवान के आठ प्रातिहार्य होते हैं:—

१ समवशरण में भगवान के पीछे अशोक वृक्ष का होना।

२ अशोक वृक्ष के नीचे रत्नमंडित कांतिमान सिंहासन का होना।

३ त्रिलोक के आधिपत्य को दर्शाने वाले अथवा रत्नागम की पूर्णता को प्रगट करने वाले सिर पर तीन छत्रों का होना।

४ भगवान के पीछे उनके केवल ज्ञान को दर्शाने वाला अत्यन्त दीप्तिमान भामण्डल का होना, जिसमें समवशरण में उपस्थित प्राणियों के सात—सात भव स्पष्ट झलकते हैं।

५ भगवान के मुखारविंद से ओम् कार रूप सर्वज्ञान एवं सर्व भाषात्मक तरंग रूप दिव्यध्वनि का उद्भव होना।

६ समवशरण में आकाश से देवताओं द्वारा पुष्पों की वृष्टि होना।

७ भगवान के ऊपर देवों द्वारा ६४ चवरों का ढुरना।

८ समवशरण में दुन्दुभि बाजों का बजना।

प्रश्न १७– चार अनन्त चतुष्टयों के नाम ?

उत्तर— जैसे ही अरहन्त भगवान के चार घातिया कर्मों का विनाश होता है वैसे ही प्रत्येक कर्म के द्वारा अनुबंधित आत्मा के ४ विशिष्ट गुण अपने पूर्ण तेज एवं सामर्थ के साथ प्रकट हो जाते हैं, ये ही चार गुण अनन्त चतुष्टय के नाम से जाने जाते हैं:—

१ अनंत दर्शन — दर्शनावरणी कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है।

२ अनंत ज्ञान — ज्ञानावरणी कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है।

३ अनंत सुख — घातिया कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है।

४ अनंत वीर्य — अन्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है।

तीर्थङ्कर भगवान के दान अन्तराय कर्म के क्षय से अनन्त जीवों का अनुग्रह करने वाला अनन्त अभयदान होता है इसी के कारण १०० योजन में सुकाल होता है तथा अदया का अभाव हो जाता है। लाभान्तराय कर्म के क्षय से तीर्थंकर भगवान को अनन्त लाभ होता है इसी से केवलि भगवान की शरीर स्थिति (कायम) के लिए परम शुभ , सूक्ष्म अनन्त पुद्गल परमाणु प्रति समय आते है। इसलिए कवलाहार न करने पर भी उनके शरीर की स्थिति देशोन कोटि वर्ष पूर्ण तक बनी रहती है। केवल ज्ञान होते ही भगवान के शरीर में अनन्त बादर निगोदिया एवं त्रस जीवों का वास समाप्त हो जाता है इसलिए भी उनके कोई कमजोरी आदि नहीं होती।

भोगान्तराय के क्षय से अनन्त भोग होता है, जिससे गन्धोदक वृष्टि एवं पुष्प वृष्टि आदि होती है। उपभोग अन्तराय के क्षय से अनन्त उपभोग होता है। जिसके कारण छत्र चँवर आदि विभूतियां होती है। वीर्यान्तराय के क्षय से अनन्त वीर्य होता है। केवलि क्षायिक वीर्य के कारण केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन द्वारा सर्व द्रव्यों एवं उनकी सर्व पर्यायों को जानने और देखने में समर्थ होते हैं। अर्थात् वह अनन्त शक्ति के पुन्ज होते हैं।

क्षायिक दान लाभ आदि का प्रत्यक्ष कार्य शरीर और तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय रहते हुए होता है चूंकि सिद्धो के उक्त कर्मों का उदय नहीं है। अतः उनके इन भावो की सत्ता अनन्त वीर्य एवं अव्याबाध सुख के रूप मे ही रहती है।

प्रश्न १८– तीर्थंकर किन्हें कहते हैं ये कितने होते हैं ?

उत्तर— तीर्थङ्कर शब्द तीर्थ शब्द से निष्पन्न हुआ है। तीर्थ शब्द की निष्पत्ति ; अथवा तरति संसार " महार्णवयेन जीवः तत् तीर्थम् " अर्थात् जिसके द्वारा संसार महार्णव (महासागर) से पार हुआ जाय वह तीर्थ है , और इस तीर्थ का जो प्रवर्तन या प्रचार करे वह तीर्थङ्कर कहलाते है। इस प्रकार से तीर्थङ्कर

शब्द का अभिधेयात्मक अर्थ सेतु या घाट होता; किन्तु इसका लाक्षणिक अर्थ धर्म की परम्परा होता है। अतः जो धर्म अर्थात मोक्षमार्ग का प्रवर्तन करे उसे तीर्थङ्कर कहते हैं।

तीर्थङ्कर किसी नूतन धर्म अथवा अभिनव सम्प्रदाय का प्रवर्तन नहीं करते ; बल्कि अनादि निधन अनवच्छिन्न रूप से प्रवर्तित तीर्थ धर्म (मोक्षमार्ग) की अभी पुनर्व्याख्या कर उसमें नये जीवन का संचार कर देते हैं। प्रत्येक तीर्थङ्कर अपने युग के समग्र सत्यान्वेषक होने से प्रचलित रूढ़िवादी परम्पराओं एवं धार्मिक विरोधों को समाप्त कर एक स्वस्थ्य चिन्तन प्रक्रिया का विकास करते है।

आगम बतलाता है कि अतीत के अनन्त काल में अनन्त तीर्थङ्कर हुए हैं। वर्तमान तीर्थङ्कर परम्परा मे चौबीस तीर्थङ्कर हुए है। जिनमें आदि तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी है। जिनका धर्म तीर्थ अभि-प्रवर्तमान है।

वर्तमान पुरातत्व सम्बन्धी खोजों से भगवान ऋषभदेव एवं भगवान नेमिनाथ पार्श्वनाथ एवं महावीर न केवल एक पौराणिक पुरुष बल्कि एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में आज स्वीकृत किये जा चुके है।

वर्तमान तीर्थ परम्परा में चौबीस तीर्थंकर एवं उनके चिन्ह निम्नलिखित हैं :—

क्रम संख्या	नाम	चिन्ह
१	ऋषभनाथ (आदिनाथ)	वृषभ
२	अजितनाथ	हाथी
३	संभवनाथ	घोड़ा
४	अभिनन्दननाथ	बंदर
५	सुमतिनाथ	चकवा
६	पद्मप्रभ	श्वेतपद्म

क्रम	नाम	चिन्ह
७	सुपार्श्वनाथ	स्वास्तिक
८	चन्द्रप्रभु	चन्द्रमा
६	पुष्पदन्त (सुविधिनाथ)	मगर
१०	शीतलनाथ	कल्पवृक्ष
११	श्रेयांसनाथ	गैंडा
१२	वाँसुपूज्य	भैंसा
१३	विमलनाथ	शूकर
१४	अनन्तनाथ	सेही
१५	धर्मनाथ	वज्रदण्ड
१६	शान्तिनाथ	हरिण
१७	कुन्थुनाथ	बकरा
१८	अरहनाथ	मच्छ
१६	मल्लिनाथ	कलश
२०	मुनिसुव्रतनाथ	कछुआ
२१	नमिनाथ	लालपद्म
२२	नेमिनाथ	शंख
२३	पार्श्वनाथ	सर्प
२४	वर्धमान (महावीर)	सिंह

चिन्ह निश्चित करने की परम्परा यह है कि जन्म कल्याणक के समय सुमेरु पर्वत पर ले जाकर भगवान का अभिषेक करते समय उनके दाहिने पैर के अंगूठे पर इन्द्र को जो चिन्ह दिखाई देता है , इन्द्र ही उनके नाम के साथ उनका चिन्ह घोषित कर देता है। यदि तीर्थंकर अरहन्त भगवान की प्रतिमा पर ही चिन्ह अंकित किया जाता है। प्रतिमा पर चिन्ह अंकित करने का मूल हेतु भगवान विशेष की पहचान करना है।

इनमें से भगवान शान्तिनाथ तीर्थंकर चक्रवर्ती एवं कामदेव इन तीन उपाधियों से विभूषित थे।

भगवान वॉसुपूज्य ; मल्लिनाथ ; नेमिनाथ ; पार्श्वनाथ एवं भगवान महावीर स्वामी बाल ब्रह्मचारी थे।

प्रश्न १६- भगवान को वीतराग क्यों कहा जाता है

उत्तर— अरहन्त भगवान १८ दोषों से रहित होते हैं इसलिए वीतराग कहे जाते हैं ये १८ दोष निम्नलिखित हैं:—

क्षुधा (भूख) तृषा (प्यास) जरा ; रोग ; जन्म ; मृत्यु ; भय ; गर्व ; द्वेष ; राग , मोह , चिन्ता , अरति , निद्रा , विस्मय ; स्वेद (पसीना) और खेद। इन १८ दोषों से विनिमुक्त होकर आप्त भगवान निरंजन बन जाते हैं —

इन १८ दोषों का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है—

क्षुधा—भोजन की इच्छा को क्षुधा कहते हैं।

तृषा—प्यास लगने को तृषा कहते हैं।

जरा—वृद्धावस्था को जरा कहते हैं।

रोग—वात , पित्त तथा कफ के विकार से उत्पन्न होने वाली व्याधि को रोग कहते है।

जन्म—कर्म निमित्त से चतुर्गति रूप संसार में उत्पत्ति होने को जन्म कहते है।

मरण—जिसके पश्चात् पुनर्जन्म धारण करना पड़े , उस जीवन के समाप्त होने को मरण कहते है। अरहन्त भगवान इस दोष से मुक्त होते है। उनका मरण न होकर निर्वाण होता है। निर्वाण वह है जिसके पश्चात , पुनर्जन्म की परम्परा समाप्त हो जाती है।

भय—इहलोक , परलोक , अरक्षा , अगुप्ति , मरण , वेदना और आकस्मिक। इन सात प्रकार के डरों को भय कहते हैं।

राग—इष्ट पदार्थों में प्रीतिरूप भाव को राग कहते हैं।

गर्व — (स्मय) — जाति , कुल , ज्ञान , ऐश्वर्य आदि के अहंकार को गर्व या स्मय कहते हैं।

द्वेष—अनिष्ट पदार्थों में अप्रीति रूप भावों को द्वेप कहते है।

मोह—पर पदार्थों मे अह बुद्धि होने को मोह कहते हैं। जैसे-
शरीर रूप मैं हूँ।

चिन्ता—इष्ट पदार्थों का वियोग होने पर उनकी प्राप्ति के लिए एवं अनिष्ट पदार्थों का सयोग होने पर उन्हे दूर करने के लिए परिणामों में जो विकलता उत्पन्न होती है उसे चिन्ता कहते है।

अरति—अनिष्ट पदार्थों का सयोग होने पर जो अप्रसन्नता होती है उसे अरति कहते हैं।

निद्रा—श्रम से थककर विश्राम करने को निद्रा कहते है।

विस्मय आश्चर्य चकित् हो जाने को विस्मय कहते है।

मद—नशा की अनुभूति को मद कहते हैं।

स्वेद—पसीना की उत्पत्ति को स्वेद कहते हैं।

इन १८ दोषों से मुक्त होने के कारण ही अरहन्त भगवान वीतराग कहलाते है। वीतराग शब्द भी अत्यन्त समीचीन एवं महत्वपूर्ण है। " समाप्त हो गया है जिनका राग वे कहलाते हैं वीतराग " यहा राग की समाप्ति का ही उल्लेख किया गया है न कि क्रोध, लोभ; द्वेष आदि अन्य विकार का इसका कारण बिल्कुल स्पष्ट है, क्योंकि जब कोई भी साधक सिद्ध बनने की दिशा मे प्रयाण करता है तब द्वेष, काम क्रोध आदि अन्य मनोविकार प्रारम्भ मे ही समाप्त हो जाते हैं। परन्तु उसकी राह मे बाधक तत्त्व रह जाता है, उसका राग भाव। अतः जिसने इस राग को समाप्त कर दिया, उसने चरम सिद्धि को प्राप्त कर लिया। इसलिए भगवान को कहा गया है " वीतराग "।

प्रश्न २०— सिद्ध परमेष्ठी के अष्ट मूलगुण किस प्रकार हैं?

उत्तर— सिद्ध परमेष्ठी के अष्ट मूलगुण निम्न प्रकार हैं जो कि कर्मों के पूर्ण क्षय से उत्पन्न होते हैं।

१ क्षायिक सम्यक्त्व—यह मोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है।

२ अनन्त दर्शन—यह दर्शनावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है।

३ अनन्त ज्ञान—यह ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से आत्मा में अनन्त पदार्थों को युगपत् समग्र रूप में जानने की शक्ति प्रगट हो जाती है।

४ अगुरुलघुत्व— यह गोत्र कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। इसके प्रगट होने से उच्चता एवं नीचता रूप भाव का अभाव हो जाता है।

५ अवगाहनत्व—यह आयु कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। इसके प्रगट होने से आयु कर्म के कारण किसी गति में निश्चित काल तक रहने की परतंत्रता का अभाव हो जाता है।

६ सूक्ष्मत्व—यह नाम कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। इसके प्रगट होने से इन्द्रिय गम्य स्थूलता का अभाव हो जाता है।

७ अनन्त वीर्य—यह अन्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से आत्मा में अनन्त भोगोपभोग की शक्ति उत्पन्न होती है।

८ अव्याबाधत्व—यह वेदनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से आत्मा मे कर्म जनित सुख एवं दुख की अनुभूति का अभाव हो जाता है।

प्रश्न २१— आचार्य परमेष्ठी के ३६ मूलगुण किस प्रकार हैं?

उत्तर— आचार्य परमेष्ठी के ३६ मूलगुण निम्न प्रकार से हैं।

द्वादश तप
दस धर्म
पंचाचार
त्रिगुप्ति
षड् आवश्यक

प्रश्न २२— द्वादश तपों के नाम व स्वरूप किस प्रकार है ?

तप:—विषय कषाय पर विजय प्राप्त करने के लिए तथा मन की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकने के लिए एवं ध्यान की सिद्धि के लिए जिन साधनों का सहारा लिया जाता है उन्हें तप कहते हैं।

यह तप बाह्य और अंतरंग के भेद से दो प्रकार होता है। प्रत्येक के ६—६ भेद है।

बाह्य तप बाह्य पदार्थ के आश्रय से होते हैं एवं ये प्रत्यक्ष दिखाई देते है। इसलिए इन्हे बाह्य तप कहते हैं। इनके ६ भेद निम्नलिखित है:—

१ अनशन या उपवास— विषय कषाय एवं चारों प्रकार के आहार के सम्यक् परित्याग को उपवास कहते हैं। मात्र आहार का त्याग जिसमे किया जाता है उसे आचार्यों ने सिद्धि का हेतु नहीं बतलाया है। उपवास का मूल उद्देश्य या लक्ष्य अपनी आत्मा के यथार्थ स्वरूप की ओर दृष्टिपात करना, सयम की सम्यक साधना; राग निवृत्ति और ध्यान सिद्धि है।

२ अवमौदर्य या ऊनोदर—संयम मे प्रमाद रहित प्रवृत्ति, संतोष शान्ति; स्वाध्याय की परिपूर्णता, निद्राविजय एवं निरतिचार सामायिक सिद्धि के लिए भूख से कम खाना "अवमौदर्य" नाम का तप है। इसी के अन्तर्गत केवल चन्द्रायण व्रत भी आता है। जिसमे एक एक ग्रास से क्रमश. बढ़ते हुए १५ ग्रास तक एवं १५ से क्रमश: घटकर एक ग्रास तक आ जाते हैं अर्थात भूख से १ ग्रास कम खाना भी ऊनोदर तप के अन्तर्गत आता है।

३ वृत्तिपरिसंख्यान— आहार के लिए जाते समय कोई विशेष नियम लेकर चलना, वृत्तिपरिसंख्यान नाम का तप है इसका मूल उद्देश्य अपनी चित्तवृत्ति पर विजय प्राप्त करना; एवं भोजन सम्बन्धी आशक्ति को क्षीण करना है।

४ रस परित्याग—ध्यान की सिद्धि के लिए एवं इन्द्रियों तथा निद्रा पर विजय प्राप्त करने के लिए काम वर्धक घी आदि गरिष्ट पदार्थों का या अन्य रस विशेष का यथा योग्य त्याग करना ; " रस-परित्याग " नाम का तप है ।

५ विविक्त शय्यासन— ब्रह्मचर्य , स्वाध्याय एवं ध्यान सिद्धि के लिए एकान्त एवं पवित्र स्थान में शयन करना एवं आसन लगाना ; " विविक्त शय्यासन " नाम का तप है । इस तप मे रागद्वेष की उत्पत्ति के अनेक कारण स्वतः अलग हो जाते है । एवं चित्त वैराग्य एवं आत्म चिन्तन की ओर प्रवृत होता है ।

६ काय क्लेश— शरीर से राग भाव की निवृत्ति के लिए एवं ध्यान की पूर्ण सिद्धि के लिए अनुकूल एवं प्रतिकूल परि-स्थितियों में शरीर के माध्यम से आसन विशेषों के द्वारा साधना करना कायक्लेश नाम का तप है । इसी कारण से श्रमण संस्कृति में ग्रीष्म ऋतु में तप्त पर्वत शिला पर ; शीत ऋतु में खुले मैदान में एवं वर्षा ऋतु में वृक्ष तले एवं नदी आदि के किनारे आसन लगाकर ध्यान करने की विवेचना है । कुछ लोगों की मान्यता है कि काया को कष्ट देना , सुखाना ; यह " कायक्लेश " नाम का तप है । परन्तु आचार्यों का यह उद्देश्य कदापि नहीं है । यह तो संसारी जीवों को लगता है ; आचार्यों की दृष्टि में तो वह ब्रह्मानन्द रूप है ।

अन्तरग तपः—इन तपों से मानव के मानस (अन्तरंग) की प्रवृति मूल हेतु है इसलिए इन्हें अन्तरंग तप कहते हैं इनके भी ६ भेद हैं :— प्रायश्चित्त , विनय ; वैयावृत्य ; स्वाध्याय , व्युत्सर्ग ध्यान ।

१— प्रायश्चित—अपराध शुद्धि के लिए प्रमाद पूर्वक की हुई गल्तियों को विशुद्ध हृदय से गुरू के सामने कह देना एवं प्रायश्चित स्वरूप गुरू जो दंड दें , उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना ; यह " प्रायश्चित " नाम का तप है इसके ६ भेद होते हैं ।

१ आलोचना— गुरू के समीप , लगे हुए सम्पूर्ण दोषों के लिए हृदय से अपनी निन्दा या गर्हा करना, " आलोचना " नाम का प्रायश्चित्त तप है ।

२ प्रतिक्रमण— मेरे द्वारा अज्ञान से व्रत में लगाये गये दोष मिथ्या हों ऐसा निवेदन करना प्रतिक्रमण कहलाता है। अपराध के प्रति प्रायश्चित्त की भावना होने से कर्म की स्थिति तथा अनुभाग क्षीण हो जाता है।

३ तदुभय— आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों को एक साथ करना तदुभय कहलाता है। दुःस्वप्न अथवा सक्लेशादि परिणामों से उत्पन्न दोषो का निराकरण करने के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण पूर्वक की जाने वाली अपराध शुद्धि को तदुभय नाम का प्रायश्चित कहते है। शिष्य आलोचना एवं तदुभय इन दोनों के द्वारा अपराध की शुद्धि करता है किन्तु गुरू मात्र प्रतिक्रमण के द्वारा ही अपराध शुद्धि कर लेता है।

४ विवेक— त्याज्य या अप्रासुक पदार्थ का ग्रहण हो जाने पर पुनः उसका त्याग करना अथवा संसृष्ट (स्पर्श किये हुए) आहार एवं उपकरण आदि का विभेद करना विवेक नाम का तप है। इसमे आचार्य महाराज अपराधी को ऐसा दंड देते हैं कि जब कोई साधु आहार से निवृत हो जावे तब तुम चर्या के लिए जाना , जहा किसी साधु का आहार हो रहा हो वहा मत जाना , दूसरे साधु के कमण्डल से मिलाकर अपना कमण्डल न रखना आदि।

५ व्युत्सर्ग— शरीर से मोह का उत्सर्ग करके ध्यान पूर्वक एक मुहूर्त एक दिन , एक पक्ष आदि नियमित अवधि के लिए खड़े रहना , " व्युत्सर्ग " नाम का तप है। इस अवधि मे शरीर का विदारण होने पर भी ध्यान से विचलित नहीं हुआ जाता। यह प्रायश्चित ऐसे अपराध के लिए दिया जाता है जिसके दोष का निर्णय न किया जा सके तथा अपराध बडा हो। यह प्रायश्चित उष्णादि की बाधा सहन करने की शारीरिक सामर्थ्य वाले साधु को ही दिया जाता है जैसे अकंपनाचार्य ने मन्त्रियों से वाद-विवाद करने पर मुनिराज को दिया था।

तप— व्रत में लगे हुए अतिचार की शुद्धि के लिए उपवास आदि करने का दंड देना तप नाम का प्रायश्चित है जैसे अपराध होने पर आचार्य महाराज ने दंड दिया। एक—एक दिन के अन्तर से २ उपवास करो, १० दिन नीरस आहार करो आदि।

छेद— व्रत में लगे हुए किसी विशेष अनाचार के लिए अपराधी शिष्य की माह, दो माह अथवा एक वर्ष की दीक्षा कम कर देना; "छेद" नाम का प्रायश्चित तप है। इस अवधि में अपराधी शिष्य को उतनी अवधि मे दीक्षित साधुओं को नमोस्तु (वंदना) करना पड़ता है।

परिहार— व्रत मे लगे हुए विशेष दोप की शुद्धि के लिए दोषी साधु के लिए, किसी निश्चित अवधि के लिए पृथक कर देना परिहार नाम का प्रायश्चित तप है। यह परिहार उत्कृष्ट रूप १२ वर्ष का होता है। यह प्रायश्चित्त पाने वाले साधु को कोई बंदना नहीं करता है तथा वह सबको बंदना करता है। गुरू के अलावा अन्य साधुओं से मौन रहता है।

उपस्थापना— व्रत मे लगे हुए विशेप अक्षम्य दोष की शुद्धि के लिए सम्पूर्ण दीक्षा का छेद कर फिर से नवीन दीक्षा देना उपस्थापना नाम का प्रायश्चित तप है। इस प्रायश्चित को प्राप्त हुआ मुनि अपने संघ के अन्य समस्त साधुओं को बंदना करता है जो पहले इसे बंदना करते थे।

२— विनय— पूज्य पुरुषों के समक्ष आने पर आदर भाव से खड़े होकर उच्चासन देना, रत्नत्रय एवं उसके धारक पुरुषो का नम्रता पूर्वक अभिनन्दन करना; "विनय" तप कहलाता है। यह चार प्रकार का होता है।

ज्ञान विनय— गुरू की विनय रखना, विद्या गुरू का नाम नही छिपना, यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करना; आदर पूर्वक योग्यकाल मे शास्त्र पढ़ना और सबसे बड़ी विनय पढ़े हुए विषय का अभ्यास करना, उसके प्रति आदर भाव रखना, यह "ज्ञान" विनय है।

दर्शन विनय— बुद्धि पूर्वक सात तत्वों का यथार्थ श्रद्धान करना एवं सम्यकदर्शन का अष्ट अंग एवं पच्चीस दोष रहित पालन करना सम्यक दर्शन एवं उसके धारकों के प्रति विनीत होना दर्शन विनय है।

चारित्र विनय— चारित्र को निर्दोष रीति से पालन करना एवं उसके प्रति आदर भाव रखना चारित्र विनय है।

उपचार विनय— मान्य पुरुषों को प्रत्यक्ष रूप मे आते देखकर खड़े होकर; कुछ चलकर नमन करना, फिर उनका अनुगमन करना, साथ चलते वक्त गुरू को अपने दायें हाथ की तरफ रखकर चलें, उपसर्ग की स्थिति में गुरू के आगे एवं सामान्य स्थिति में उनके पीछे चलें एवं परोक्ष रूप में उन्हें मस्तक झुकाना आदि यह उपचार विनय है।

३— वैयावृत्य— सेवनीय पुरुषों के शरीरादि द्वारा सेवा शुश्रुषा करना, उन्हें हर तरह से समाधान करना "वैयावृत्य" नाम का तप है। जिन मुनियों की वैयावृत्ति की जाती है वे १० प्रकार के हैं:—

आचार्य— जो मुनिसंघ के अधिपति होते हैं।

उपाध्याय— जिनके पास मुनिगण शास्त्र स्वाध्याय करते हैं।

तपस्वी— जो अधिक व्रत उपवासादि करते हैं।

शैक्ष्य— जो श्रुत का अभ्यास करते हैं।

ग्लान— जिनके शरीर मे कुछ कष्टादि होता है।

गण— एक ही आचार्य से दीक्षित वृद्ध साधुओं का समूह गण कहलाता है।

कुल— एक ही गुरू से दीक्षित शिष्य प्रशिष्यों का समूह कुल कहलाता है।

संघ— ऋषि, यति, मुनि एवं अनगार। इन ४ प्रकार के साधुओं के समूह को संघ कहते हैं।

ऋषि— विशेष ऋद्धि प्राप्त साधु।

यति— जो पाक्षिक , मासिक आदि उपवास करते हैं ।
मुनि— अवधि , मनःपर्यय आदि विशेष ज्ञान से युक्त साधु ।
अनगार— सामान्य साधु जो ऊपर की श्रेणी में नहीं आते ।
मनोज्ञ— जिनकी लोक में कीर्ति फैली हो अर्थात जो लोकमान्य एवं लोकपूज्य हो ।

४—स्वाध्याय— " स्वाध्याय परमं तपः " इस पँचम काल में स्वाध्याय ही परम् उत्कृष्ट तप है । प्रमाद को छोड़कर श्रुत के माध्मम से स्वयं का अध्ययन करना स्वाध्याय नाम का तप है । इसके ५ भेद हैं:—

वाचना— शब्दों का सही उच्चारण एवं निर्दोष अर्थ का अवधारण करते हुए शास्त्र का पड़ना एवं पढ़कर दूसरों को श्रवण करना वाचना नाम का स्वाध्याय है ।

प्रच्छना— विनय भाव से शंका की निवृत्ति के लिए ज्ञान तत्वार्थ को दृढ़ करने के लिए एवं यथार्थ तत्व निर्णय के लिए विशिष्ट विज्ञ पुरुषो से प्रश्न पूछना प्रच्छना नाम का स्वाध्याय है । वक्ता से उत्तर बनता है या नहीं अथवा अपनी विद्वत्ता प्रगट करने के अभिप्राय से प्रश्न पूछना यह प्रच्छना नाम का स्वाध्याय नहीं है, वह तो कर्म बंध का ही कारण है ।

अनुप्रेक्षा— श्रवण किये हुए अथवा वाचन किये हुए विषय का बार बार चिन्तन एवं मनन करना अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय है । इसी स्वाध्याय से आगम प्रतिपादित तत्व का यथार्थ निर्णय एवं अवधारण होता है ।

आम्नाय— श्रवण किये हुए अथवा वाचन किए हुए पाठ का बार बार निर्दोष उच्चारण करते हुए उसे याद करना " आम्नाय " नाम का स्वाध्याय है ।

धर्मोपदेश— ज्ञान का विशेष क्षयोपशम होने पर धर्म का यथार्थ

स्याद्‌वाद मय शैली से उपदेश देना या धर्म चर्चा करना धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय है ।

५– व्युत्सर्ग— व्युत्सर्ग शब्द का अर्थ होता है त्याग । शरीर एवं पर पदार्थों में अहँ भाव एवं ममत्व भाव को छोड़ना व्युत्सर्ग तप है ।

इसके दो भेद हैं: –

बाह्य व्युसर्ग— आत्मा से स्पष्ट अलग दिखने वाले पदार्थों के प्रति ममत्व को छोडना बाह्य व्युत्सर्ग है ।

आभ्यन्तर व्युत्सर्ग— आत्मा से उत्पन्न होने वाले राग द्वेष एवं क्रोधादि कषाय रूप परिणामो का त्याग करना आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है ।

६– ध्यान— किसी एक विषय के चिन्तन मे मन को स्थिर (एकाग्र) करना ध्यान कहलाता है । जब मन की बहिर्मुख प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाकर चित्त के विक्षेप को रोका जाता है उस समय आत्मा से समस्त संकल्प विकल्पो की आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है जिसमें अनादिकालीन कर्मों की सन्तति क्षीण होकर टूट जाती है जिससे यह जीव अपनी सच्चिदानंद रूप अवस्था (मोक्ष) को प्राप्त होकर जन्म मरण की परम्परा से मुक्त हो जाता है । इस ध्यान के चार भेद हैं। इनका खुलासा आगे किया गया है ।

प्रश्न २३– दशधर्मों के नाम एवं स्वरूप ?

१ उत्तम क्षमा २ उत्तम मार्दव ३ उत्तम आर्जव ४ उत्तम शौच
५ उत्तम सत्य ६ उत्तम सयम ७ उत्तम तप
८ उत्तम त्याग ९ उत्तम आकिंचन्य
१० उत्तम ब्रह्मचर्य

धर्म— जिसके माध्यम से आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो उसे धर्म कहते हैं। यह धर्म १० प्रकार का होता है:—

१ उत्तम क्षमा— क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी मन मे विकार भाव न लाना ; कर्म सिद्धाँत का चिन्तन करते हुए ; प्राणी मात्र पर साम्य भाव रखना उत्तम क्षमा धर्म है।

अत्यन्त दारूण भयानक उपसर्ग किये जाने पर जिनका निर्मल चित्त क्रोध से आवृत्त नहीं होता है; जिनमे हृदय से सब प्राणियों के प्रति मैत्री भाव एवँ समता का स्त्रोत सतत् उमड़ता रहता है, निशल्य एवं कषाय रहित ऐसे श्रमण के यह निर्मल उत्तम क्षमा धर्म होता है।

२ उत्तम मार्दव— अहंकार पर विजय प्राप्त करना एवं अन्तर बाह्य नम्रता धारण करना उत्तम मार्दव धर्म है।

कीर्ति , कुल , रूप ; जाति , ज्ञान , तप , श्रुत एवं शक्ति के गर्व से रहित वर्हिदृष्टि को अन्तर्मुखी बनाकर आत्म गुणों के प्रति निष्ठ से पूरित हृदय कमल से सुशोभित श्रवण मार्दव धर्म होता है।

३ उत्तम आर्जव— योगों की प्रवृत्ति को सरल बनाना अर्थात छल कपट का परित्याग करना उत्तम आर्जव धर्म है।

मन वचन काय की सहज ऋतु मंगल प्रवृत्ति से विभूषित श्रवण के उत्तम आर्जव धर्म होता है।

४ उत्तम शौच— पर पदार्थ के प्रति ममत्व भाव का त्याग करते हुए स्व. स्वरूप में आत्मीय भाव धारण करना उत्तम शौच धर्म है।

विषय भोगों की उपलब्धि से सतत् बढ़ने वाली, अतृप्त लालसा की जड तृष्णा के यथार्थ विकराल रूप का दर्शन कर लेने वाला श्रमण, संतोष एवं समत्व के निर्मल महासागर में निरन्तर निमन्जन करता हुआ चातक बनकर आत्मानुभूति का मधुर रस पीता रहता है। ऐसे श्रमण के उत्तम शौच धर्म होता है।

५ उत्तम सत्य— संसार के यथार्थ स्वरूप को समझकर संवेग भाव से आवश्यकता पड़ने पर हित मित प्रिय वचन बोलना यह उत्तम सत्य धर्म है।

समस्त धर्मों का उद्गम स्वरूप सत्य कड़वी औषधि के समान प्राणीमात्र के कल्याण का मूल है। इस सत्य विचार को स्वीकार कर दूसरों को दुख एवं संताप पहुंचाने वाले वचनों का विसर्जन कर स्व- पर हितकारी वचनो के बोलने वाले श्रमण के उत्तम सत्य धर्म होता है।

६ उत्तम सयम— पांच इन्द्रियो और मन के विषयों में प्रवृत्ति नही करना एवं षट्काय के जीवों की रक्षा करते हुए प्रमाद रहित प्रवृत्ति करना उत्तम संयम धर्म है।

इन्द्रिय विषय एवं कषायों का परित्याग करके पंच महाव्रत, मन; वचन, काय, की प्रवृत्ति के निरोध रूप त्रिगुप्ति एवं प्रमाद रहित प्रवृत्ति की द्योतक पॉच समिति, रूप प्रवृत्ति के सम्यक् परिपालन मे प्रवृत्त हुए श्रमण के उत्तम संयम धर्म होता है।

उत्तम तप— ध्यान की सिद्धि के लिए एवं इन्द्रिय विजय के लिए द्वादश तपों का सम्यक् पालन करना उत्ताम तप धर्म होता है।

ध्यान एवं स्वाध्याय के मूल हेतु, स्वाधीन प्रवृत्ति के परिचालक द्वादश तपों मे समीचीन प्रवृत्ति रखने वाले श्रमण के उत्ताम तप धर्म होता है।

८ उत्तम त्याग— आत्मा के विकारी भावों का परित्याग करने के लिए प्रयत्न करना एवं २४ प्रकार के अंतरंग तथा १० प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग करना उत्तम त्याग धर्म है।

संसार शरीर एवं भोगों के प्रति निर्वेद को प्राप्त होकर काम, क्रोध, द्वेष आदि विकारो से विलग होकर पर पदार्थों में

होने वाले ममत्व भाव के परित्याग त्याग करने वाले श्रमण के उत्तम त्याग धर्म होता है।

६ उत्तम आकिन्चन्य— शरीर एवं बाह्य पदार्थों के प्रति ममत्व न रखते हुए स्व- आत्म तत्व मे उपादेय बुद्धि रखना, उत्तम आकिन्चन्य धर्म है।

सम्पूर्ण परिग्रह के त्याग से निसंग होकर पर पदार्थों से मोह को त्याग कर स्वाधीन एकत्व विभक्त शुद्धात्मा के अलावा किंचित मात्र भी परिग्रह मेरा नहीं, ऐसी प्रवृत्ति वाले श्रमण के उतम आकिन्चन्य धर्म होता है ।

१० उत्तम ब्रह्मचर्य— मानुषी, देवी, और अचेतन इन चारो प्रकार की स्त्रियो के संसर्ग से सर्वथा मुक्त होकर त्रिकाली; शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले एकत्व विभक्त स्व-आत्म में ही रमण करना उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है ।

जगत के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले सर्वकाय विकारों में रहित एकत्व विभक्त आत्मा में ही सदैव (चर्या) रमण करने वाले श्रमण के उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म होता है ।

प्रश्न २४- पन्च आचारों के नाम?

उत्तर— आचार्य महाराज जिन पांच आचारों का परिपालन करते हैं वे निम्न हैं:— ज्ञानाचार; दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार ।

१ ज्ञानाचार— ज्ञान अर्थात जानना- पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को समझना वह ज्ञान है एवं उस ज्ञान के अनुसार आचरण की ओर प्रवृत्ति करना वह ज्ञानाचार है ।

२ दर्शनाचार— सम्यग्दर्शन का निर्दोष पालन करना वह दर्शनाचार है ।

३ चारित्राचार— सम्यकचारित्र रुप जो समिति गुप्ति आदि हैं; उनका सम्यक् पालन केवल बाह्य रुप में न होकर

अन्तरंग परिणति भी वैसी बने उसे चारित्राचार कहते हैं, यदि ऐसा नहीं है तो बाह्य आचारों को केवल शरीराचार ही कहा जावेगा ।

४ तपाचार – द्वादश तपो मे पूर्ण प्रवृति को रखना एवं उस तप का जो फल आत्म स्वरूप में स्थिति या रमण, वह तप आचार कहलाता है ।

५ वीर्याचार– आत्मा में जितनी शक्ति है उसके अनुकूल आचरण करना वीर्याचार कहलाता है ।

प्रश्न २५– तीन गुप्तियों के नाम ?

उत्तर— गुप्ति— सम्यक् प्रकार से मन, वचन, काय इन तीन योगों की प्रवृत्ति को रोकना; उन्हें सांसारिक प्रवृत्तियो से मुक्त करना गुप्ति कहलाता है । अन्तरँग गुप्ति होने पर ही बाह्य गुप्ति कही जाती है । इसका प्रारम्भ सम्यग्दृष्टि श्रमण के होता है ।

गुप्ति तीन प्रकार की होती हैं—

१ मनोगुप्ति—, मन की स्वच्छन्द प्रवृति का रुक जाना मनोगुप्ति है ।

२ वचनगुप्ति— वचन की प्रवृति का रुक जाना वचनगुप्ति है ।

३ कायगुप्ति— शरीर की चेष्टाओं का रुक जाना कायगुप्ति है ।

जिस प्रकार वाढ़ खेत की और खाई नगर की रक्षा करते है उसी प्रकार पाप निरोधक गुप्तिया साधु के संयम की रक्षक होती है ।

विषयो मे प्रवृति को रोकने के लिए गुप्ति बतलाई जो गुप्ति के पूर्णतया पालन मे असमर्थ है, उनकी प्रवृति के उपाय बतलाने के लिए समिति (सम्यक् प्रवृति) बतलाई गई है । और समिति में प्रवृति करने वाले मुनि को प्रमाद के परिहार के लिए दस प्रकार का धर्म बतलाया गया है ।

प्रश्न २६- षट आवश्यकों के नाम ?

उत्तर— अवश्यमेव करणीयं इति आवश्यकमं ।

षट आवश्यक— जिनके बिना सम्यक् चारित्र का निर्दोष पालन न हो सके उन्हें आवश्यक कहते हैं। ये सम्यक् चारित्र रूपी धान्य की रक्षा के लिए बाड़ का कार्य करते हैं। ये इस प्रकार हैं—

१ समता— प्राणी मात्र के प्रति समता का भाव रखना, किसी के प्रति द्वेष आदि न रखना एवं सतत् आत्म स्वभाव की ओर दृष्टि रखना समता भाव कहलाता है।

२ वदना करना—तीर्थंकर भगवान के स्वरूप की प्राप्ति के लिए (किसी एक तीर्थंकर की) श्रद्धा-भक्ति से बंदना करना ।

३ स्तुति करना—चौबीस तीर्थंकरों के गुणों की प्रशँसा करते हुए स्तुति करना ।

४ स्वाध्याय शास्त्र भक्ति—सम्यग्ज्ञान रूप श्रुतज्ञान की विशेष प्राप्ति के लिए शास्त्र अध्ययन करना ।

५ प्रतिक्रमण—प्रमाद से लगे हुए दोपों की निन्दा एवं आलोचना पूर्वक दूर करना प्रतिक्रमण कहलाता है।

६ कायोत्सर्ग—खड़े होकर दोनों हाथों को नीचे की ओर लटका कर, पैर के दोनों पंजों को एक सीध मे चार अंगुल के अन्तराल से रखकर; काया से ममत्व छोड़कर आत्म ध्यान में लीन होना कायोत्सर्ग है।

प्रश्न २७- उपाध्याय परमेष्ठी के २५ मूलगुण ?

उत्तर— उपाध्याय परमेष्ठी सामान्य श्रमण के सभी मूलगुणों का पालन तो हमेशा करते ही हैं किन्तु विशेष रूप से श्रुतज्ञान

से सम्बद्ध उनके २५ मूलगुण होते हैं। जो द्वादशॉग वाणी रूप द्रव्य श्रत के अध्ययन अध्यापन के नियत अधिकार से संबंद्ध हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी ११ अँग एवं १४ पूर्व रूप द्रव्य के अधिकारी विद्वान होते हैं।

प्रश्न २८– ग्यारह अंगों एवं चौदह पूर्वों के नाम?

उत्तर— ११ अंग एवं १४ पूर्व द्रव्य श्रुतज्ञान के भेद हैं:—

"श्रुत का अर्थ होता है सुना हुआ। वीतरागी; सर्वज्ञ अरहन्त भगवान के मुखारबिन्द से सुना हुआ होने के कारण यह सम्पूर्ण ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। तीर्थंकर अपने दिव्यज्ञान द्वारा पदार्थों का साक्षात्कार करके बीजपदों के द्वारा उपदेश देते हैं और गणधर उन बीजपदो का और उनके अर्थ का अवधारण करके, उनका ग्रन्थरूप मे व्याख्यान करते हैं यही द्रव्यश्रुत कहा जाता है।

इस द्रव्यश्रुत के अर्थकर्ता तीर्थंकर और ग्रन्थकर्ता गणधर माने जाते हैं। श्रुतज्ञान की वह परम्परा अनादि अनवच्छिन्न रूप से चली आ रही है। ऋषभदेव भगवान के तीर्थ काल में जो श्रुतज्ञान की परम्परा आरम्भ हुई थी, वह भगवान पार्श्वनाथ और महावीर के तीर्थ काल मे भी गतिशील रही। इस युग मे श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को ब्रह्ममुहुर्त्त मे तीर्थंकर महावीर की देशना प्रादुर्भूत हुई और गौतम गणधर ने उसे द्वादशांग रूप मे निबद्ध किया। यही निबद्ध ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है।

(वरैया स्मृति ग्रन्थ; पेज ३५२)

मूल मे श्रुत के दो भेद होते हैं— द्रव्यश्रुत एवं भावश्रुत आप्त भगवान के उपदेश रूप द्वादशांग वाणी को द्रव्यश्रुत और उससे होने वाले भावज्ञान को भावश्रुत कहते हैं।

इस प्रकार द्रव्यश्रुत शब्द रूप एवं भावश्रुत उस शब्दश्रुत से होने वाले ज्ञान को कहते हैं। इसी कारण द्रव्यश्रुत एवं भावश्रुत को क्रमशः ग्रन्थरूप श्रुत एवं ज्ञान रूप श्रुत भी कहते है। इस ग्रन्थरूप श्रुत या अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के मूल में दो भेद हैं—

१ अंग प्रविष्ट
२ अंग बाह्य

इनमें से अंग बाह्य के १४ भेद हैं।
एवं अंग प्रविष्ट के १२ भेद होते हैं।—

१ आचारांग
२ सूत्रकृतांग
३ स्थानांग
४ समवायाँग
५ व्याख्या प्रज्ञप्ति अंग
६ ज्ञातृ धर्म कथांग
७ उपासकाध्ययनांग
८ अन्तःकृत दशांग
९ अनुत्तरोपपादिक दशांग
१० प्रश्न व्याकरणांग
११ विपाक सूत्रांग
१२ दृष्टि वादांग

इनमें से प्रथम ११ अंग कहलाते हैं एवं बारहवें अंग दृष्टिवाद के ५ भेद हैं—

१ परिकर्म
२ सूत्र
३ प्रथमानुयोग
४ पूर्वगत
५ चूलिका

इनमे से परिकर्म-के पांच भेद हैं-चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, व्याख्या प्रज्ञप्ति

इनमें से पूर्वगत के १४ भेद हैं जिन्हें १४ पूर्व कहा जाता है ये १४ पूर्व निम्नलिखित हैं—

१ उत्पाद पूर्व
२ अग्रायणी पूर्व
३ वीर्यानुवाद पूर्व
४ अस्ति नास्ति पूर्व
५ ज्ञानप्रवाद पूर्व
६ सत्यप्रवाद पूर्व
७ कल्याणवाद पूर्व
८ कर्म प्रवाद पूर्व
९ प्रत्याख्यान पूर्व
१० विद्यानुवाद पूर्व
११ आत्मप्रवाद पूर्व
१२ प्राणवाद पूर्व
१३ क्रिया विशाल पूर्व
१४ त्रिलोकविन्दु सार

चूलिका के पाच भेद है—

१ जलगता
२ स्थलगता
३ मायागता
४ आकाश गता
५ रुपगता

जैन वाङमय अत्यन्त विशाल एवं परिपूर्ण है। उसमें प्रत्येक विद्या पर समुन्नत साहित्य लिखा गया है, चाहे वह अध्यात्म या दर्शन हो, तर्क, न्याय, इतिहास, ज्योतिप, वैद्यकभाषा गणित, खगोल, भूगोल, भाषा; छन्द, शास्त्र; निमित्त;

मंत्र एवं तंत्र आदि कोई भी विद्या हो। चूंकि प्राचीन परम्परा मे यह श्रुत अथवा श्रवण के माध्यम से अर्थात गुरू शिष्य परम्परा से अग्रसित होता गया किन्तु बुद्धि की मंदता एवं धारण शक्ति की हीनता से जब यह ज्ञान साहित्य रूप मे ग्रथित हुआ तो हमारी असावधानता एवं प्रमाद से उसका बहुभाग काल के गर्त में समा गया या उसे साम्प्रदायिक उन्माद में नष्ट कर दिया गया किन्तु आज भी प्रत्येक विषय पर जितना विपुल साहित्य उपलब्ध है, वह इसकी प्राचीनता, समृद्धता एवं समग्रता की ओर दृष्टिपात करने के लिए हमें इंगित करता है। अस्तु ११ अंग एवं १४ पूर्व जो कि विषय वैविध्य की दृष्टि से समस्त विद्याओं को स्वयं मे समाहित किये है। उन पर विचार करना अत्यन्त सामयिक एवं उपयोगी होगा।

ग्यारह अंगों में से प्रत्येक अंग एवं उसके विषय भूत विषय का विवेचन प्रस्तुत है:—

१ आचारांग— इसमें श्रमणों के आचार का विशद वर्णन किया गया है; इसमे अठारह हजार पद है।

२ सूत्रकृतांग— इसमें चारित्र रूप व्यवहार धर्म की क्रियाओं का एवं स्व-सिद्धांत एवं पर सिद्धान्त का विशद विवेचन किया गया है। इसमे छत्तीस हजार पद है।

३ स्थानांग— यह अंग जीवद्रव्य का एक से लेकर उत्तरोत्तर एक-एक की संख्या के बढ़ते हुए क्रम से विवेचन करता है। इसमे ४२ हजार पद है। जैसे-जीवद्रव्य चैतन्य धर्म की अपेक्षा एक है, ज्ञान एवं दर्शन रूप द्विविध उपयोग के भेद से दो प्रकार का है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की अपेक्षा यह त्रिभेद रूप है। चतुर्गति के भेद से जीव चार प्रकार का है।

४ समवायांग— यह अंग द्रव्य; क्षेत्र; काल, भाव इन चार प्रकार के समवाय से सम्पूर्ण पदार्थों का वर्णन करता है। जैसे- काल की दृष्टि उत्सर्पिणी एवं

अवसर्पिणी दोनो काल (दस कोड़ा कोड़ीसागर स्थिति) समान हैं। द्रव्य समवाय की दृष्टि से धर्मद्रव्य लोकाकाश एव एक जीव के प्रदेश समान है। भाव की अपेक्षा जीव के क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और यथाख्यात चारित्र समान है। क्षेत्र की दृष्टि से नरक के प्रथम पटल का सीमान्तक बिल, मनुष्य लोक, प्रथम स्वर्ग के प्रथम पटल का ऋजुविमान और सिद्धशिला इन सब का विस्तार समान है। इसमे एक लाख चौसठ हजार पद हैं।

५ व्याख्या प्रज्ञप्ति अग— इस अंग मे जीव के अस्तित्व अर्थात "क्या जीव है अथवा नहीं" इस विषय पर साठ हजार प्रश्नों का समाधान किया गया है। इसमें दो लाख अट्ठाईस हजार पद हैं।

६ धर्म कथांग— इस अंग मे तीर्थंकर की धर्म देशना का, सदेह को प्राप्त गणधर देव के सन्देह को दूर करने की विधि का तथा अनेक प्रकार की कथा उपकथाओं का वर्णन किया जाता है। इसमे पांच लाख छप्पन हजार पद हैं।

७ उपासकाध्ययनांग— इस अंग में श्रावकों के आचारों का विशद वर्णन किया गया है। इसमे ग्यारह लाख सत्तर हजार पद हैं।

८ अन्त कृतदशांग— इस अंग मे प्रत्येक तीर्थङ्कर के तीर्थ में अनेक प्रकार के उपसर्गों को सहनकर निर्वाण को प्राप्त हुए दश-दश अन्तःकृत केवलियों का वर्णन किया गया है। इसमें तेईस लाख पच्चीस हजार पद हैं।

९ अनुत्तरोपपादिक दशांग— इस अंग में प्रत्येक तीर्थ में अनेक प्रकार के उपसर्गों को सहनकर पॉच अनुत्तर विमान में जन्म हुए दस-दस मुनियों का वर्णन किया गया है। इसमें ९२ लाख ४४ हजार पद हैं।

१० प्रश्न व्याकरणाँग— इस अंग में आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन ४ प्रकार की कथाओं का वर्णन किया गया है। इसमें ९३ लाख १६ हजार पद हैं।

१ आक्षेपणी कथा— यह एकान्त दृष्टियों का निराकरण करके छह द्रव्य और नौ पदार्थों का प्ररुपण करती है।

२ विक्षेपणी कथा— इसमें पहले पर–सिद्धान्त के द्वारा स्व-सिद्धान्त में दोष बतलाकर फिर पर–सिद्धान्त का खंडन कर स्व–सिद्धान्त का मंडन किया जाता है।

निर्वेदनी कथा— पाप के फल का वर्णन करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहते हैं। इस अंग में प्रश्न के अनुसार विनाश; चिन्ता, लाभ, हानि, सुख; दुख, जीवन, मरण; जय; पराजय आदि का भी वर्णन होता है।

११ विपाक सूत्राँग— इसमें पुण्य और पाप रुप कर्मों के फलों का वर्णन किया गया है। इसमें एक करोड़ चौरासी लाख पद हैं।

इस तरह ग्यारह अंगों के समस्त पदों का योग चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार है।

बारहवां अंग दृष्टिवाद है। इसमे तीन सौ त्रेसठ मतों का वर्णन करके उनका निराकरण किया गया है।

इस अंग के पांच भेदो में चौथा भेद पूर्वगत है। जिनके निम्न १४ भेद किये गये हैं जो १४ पूर्व के नाम से जाने जाते हैं। इनका विषय एवं पद संख्या निम्नलिखित है—

१ उत्पाद पूर्व— यह पूर्व छह द्रव्यों के उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य का वर्णन करता है। इसकी पद संख्या १ करोड़ है।

२ अग्रायणी पूर्व— इसमें सात सौ सुनय और दुर्नयों का तथा ६ द्रव्य; ९ पदार्थ और पांच अस्तिकायो का वर्णन किया गया है। इसकी पद संख्या ९६ लाख है;

३ वीर्यानुवाद पूर्व— इसमें आत्मवीर्य, परवीर्य; उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य, भववीर्य और तपवीर्य का वर्णन किया गया है इसकी पद संख्या ७० लाख है।

४ अस्ति नास्ति प्रवाद पूर्व— इसमे सब द्रव्यो का स्वचतुष्टय से अस्तित्व का एवं परचतुष्टय से नास्तित्व का वर्णन किया गया है। इसमे ६० लाख पद हैं।

५ ज्ञान प्रवाद पूर्व— इसमे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान इन पाच सुज्ञान एवं कुमति कुश्रुत एवं कुअवधि इन तीन कुज्ञानो का वर्णन किया गया है इसकी पद सँख्या १ कम १ करोड है।

६ सत्यप्रवाद पूर्व— इसमे दस प्रकार के सत्य वचन अनेक प्रकार के असत्य वचन एवं बारह प्रकार की भाषाओं आदि का वर्णन किया गया है। इसकी पद संख्या एक करोड छह है।

७ आत्म प्रवाद पूर्व— इसमे जीव विषयक दुर्नयों का निराकरण करके जीवद्रव्य की सिद्धि की गई है। इसकी पद संख्या २६ करोड़ है।

८ कर्म प्रवाद पूर्व— इसमे अष्ट कर्मों का विशद् व्याख्यान किया गया है। इसकी पद संख्या एक करोड ८० लाख है।

९ प्रत्याख्यान पूर्व— इसमे प्रत्याख्यान अर्थात सावद्य वस्तु के त्याग का उपवास की विधि का, और उसकी भावना रूप, पंच समिति, तीन गुप्ति का वर्णन किया गया है। इसकी पद संख्या ३४ लाख है।

१० विद्यानुवाद पूर्व— इसमे ७०० लघु विद्याओं का, ५०० महाविद्याओ का, और उन विद्याओं के साधन करने की विधि का, उन विद्याओं के फल का तथा आकाश, भौम, अंग, स्वर स्वप्न लक्षण, व्यंजन, चिन्ह, इन आठ निमित्तों का वर्णन

किया गया है । इसकी पद संख्या एक करोड़ दस लाख है।

११ कल्याणवाद पूर्व— इसमें सूर्य चन्द्रमा और नक्षत्र तथा तारा गणो के उत्पाद स्थान, गति; विपरीत गति और उनके फलों का तथा तीर्थङ्कर बलदेव; वासुदेव एवं चक्रवर्ती आदि के गर्भावतार आदि कल्याणकों का वर्णन किया गया है इसकी पद संख्या ५७ करोड़ है ।

१२ प्राणवाद पूर्व— इसमे आष्टाँग; आयुर्वेद, भूविकर्म (शरीर आदि की रक्षा के लिए भस्म लेपन, सूत्र बंधन आदि कर्म) जांगुलि प्रथम (विषविद्या) और श्वासोच्छवास के भेदों का विशद वर्णन किया गया है। इसकी पद संख्या १३ करोड़ है ।

१३ क्रिया विशाल पूर्व— इसमें बहत्तर कलाओं का, स्त्री संबंधी चौसठ गुणों का; शिल्प कला का; काव्य सम्बन्धी गुणदोष का और छन्द शास्त्र का वर्णन किया गया है। इसकी पद संख्या ६ करोड़ है।

१४ लोक बिन्दुसार— इसमें आठ प्रकार के व्यवहारो का; चार प्रकार के बीजों का; मोक्ष को ले जाने वाली क्रिया का और मोक्ष के सुखों का वर्णन किया गया है। इसकी पद संख्या बारह करोड़ पचास लाख है।

इसके सिवाय दृष्टि वादांग के अन्य भेदों के भी अनेक उपभेद किये गये हैं। जिनमे समस्त विद्याओं का ज्ञान समाहित हो जाता है। इसके अतिरिक्त अंग बाह्य के १४ भेद हैं। जिनमें आचार शास्त्र का विशद वर्णन किया गया है (विशद विवेचन अन्य शास्त्रो मे जान लेना।)

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन वाङ्गमय प्रत्येक कला के सूक्ष्म एवं गूढ विवेचन से समृद्ध है; आज के विज्ञान से वह हर प्रकार से आगे है। केवल उसका अन्वेषण आवश्यक है।

आगम में पद तीन प्रकार के पाये जाते हैं। अर्थपद, प्रमाणपद, और मध्यम पद। जिसके उच्चारण से किसी वस्तु विशेष का ज्ञान होता है, उसे अर्थपद कहते हैं। (इसमें अक्षरों की संख्या अनियत है) जैसे धर्म अनेकान्तात्मक है। गुणो की पूजा सर्वत्र होती है। अनुष्टुप आदि छन्दो के अष्ट आदि अक्षरों से बने हुए पद को प्रमाण पद कहते है। जैसे नमः श्री वर्धमानायः आदि। यह दोनों इस लोक मे प्रसिद्ध हैं, परन्तु जिस मध्यम पद के माध्यम से समस्त द्वीप समुद्रों का विवेचन किया जाता है। उस मध्यम पद के अक्षरो की संख्या १६३४८३०७८८८ है। एवं पूर्वों में इसी मध्यम पद का विवेचन है।

प्रश्न २६– साधु परमेष्ठी के २८ मूलगुण?

उत्तर— पांच महाव्रत
पांच समिति
पचेन्द्रिय विजय
षट् आवश्यक
सप्त शेष गुण

प्रश्न ३०– पन्च महाव्रतों के नाम?

उत्तर— महाव्रत – निश्चय सम्यक् चारित्र की प्राप्ति के लिए पाँच पापों के पूर्ण रुप परित्याग को महाव्रत सम्यग्चारित्र कहते हैं।

सम्यग्चारित्र की उत्पत्ति सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही होती है। इसके बिना जो चारित्र है, वह मिथ्याचारित्र कहलाता है। महाव्रत रुप चारित्र धारण करने का मूल प्रयोजन रागद्वेष की निवृत्ति करना है; क्योंकि इन्हीं से प्रेरित होकर प्राणी विभिन्न प्रकार के पाप कार्यों में प्रवृत्ति करता है। और रागद्वेष की उत्पत्ति का कारण मिथ्यात्व कषाए एवं अज्ञानभाव हैं। अतः इनको दूर करने के लिए सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान पूर्वक जो

चारित्र धारण किया जाता है उसे ही सम्यक्चारित्र कहते हैं। महाव्रत के पांच भेद हैं—

१ अहिंसा महाव्रत— आत्मा में रागद्वेष आदि विकारों की उत्पत्ति न होने देना ही वास्तविक अहिंसा महाव्रत है। और बाह्य में इसकी पूर्णता में सहायक षटकाय के जीवों की मन; वचन काय से विराधना का करना एवं उनकी दुख की उत्पत्ति में स्वयं हेतु न बनना, सो अहिंसा महाव्रत है।

२ सत्य महाव्रत— कषाय माया या स्वार्थ के वशीभूत असत्य वचन न बोलना असत्य महाव्रत है। वास्तव में पदार्थों का यथावत श्रद्धान एवं उसका उस रुप ही विवेचन करना सो सत्य महाव्रत है। विचार में, वाणी में एवं आचरण में सत्य का होना ही वास्तविक सत्य है। इसकी भी पूर्णता कषायों एवं अज्ञान के पूर्ण परित्याग के विना संभव नहीं। भूल में ये दो कारण ही असत्य बोलने के हेतु होते हैं।

३ अचौर्य महाव्रत— बिना दिये हुए किसी भी प्रकार के पदार्थ एवं उपकरण का भी ग्रहण न करना अचौर्य महाव्रत है। "पर पदार्थ मेरा है" इस प्रकार के ममत्व भाव का पूर्ण रुप से मन; वचन, काय से त्याग करना सो अचौर्य महाव्रत है। इस व्रत की पूर्णता भी पदार्थ के यथार्थ श्रद्धान ज्ञान एवं स्पष्ट भेद विज्ञान के बिना नहीं हो सकती।

४ ब्रह्मचर्य महाव्रत— मन वचन काय से स्त्री विषय कषाय का त्याग एवं आत्म स्वरूप मे स्थिति करना ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

५ अपरिग्रह महाव्रत— अपने शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिए १० हजार के बाह्य परिग्रह से बुद्धि पूर्वक स्वयं को मोड़ना एवं १४ प्रकार के आन्तरिक परिग्रह के त्याग के लिए पुरुषार्थ पूर्वक, मिथ्यात्व, कषाय एवं ममत्व का परित्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है।

प्रश्न ३१- पञ्च समितियों के नाम एवं स्वरूप?

उत्तर— समिति— प्रमाद रहित सम्यक् प्रवृति को समिति कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति केवल ५ ही काम करता है। चलना, बोलना, खाना, उठना रखना एवं क्षेपण (उत्सर्ग) करना। ये ही पाँच कार्य सतत् चलते रहते है। अत समिति के भी पांच भेद होते है। समिति प्रत्येक चर्या मे यत्नाचारिता सावधानी अथवा जागरूक प्रवृति को दर्शाती है।

१ ईर्या समिति— सूर्य के आलोक मे प्रासुक मार्ग से (जिस मार्ग पर पहले से आवागमन शुरू हो चुका है) चार हाथ आगे की भूमि को देखते हुए; जीवों की विराधना न करते हुए गमन करना ईर्या समिति है।

२ भाषा समिति— आवश्यक प्रामाणिक हित मित प्रिय वचन बोलना। जो निरर्थक, मर्मभेदी, सन्देहास्पद एवं पाप से रहित हो। भाषा समिति है।

३ एषणा समिति— सूर्योदय के दो घडी पश्चात या सूर्यास्त के दो घड़ी पहले तक श्रद्धा एवं भक्ति से कुलीन श्रावक द्वारा नवधा भक्ति पूर्वक दिये गये छयालीस दोष एवं बत्तीस अन्तराय रहित निर्दोष आहार को ग्रहण करना एषणा समिति है।

४ आदान निक्षेपण— मयूर पिच्छिका, कमण्डलु एवं स्वाध्याय के हेतु शास्त्र आदि उपकरणों को आंख से देखकर सावधानी पूर्वक प्रमार्जित करके उठाना और रखना आदान निक्षेपण समिति है।

५ प्रतिष्ठापना या उत्सर्ग समिति— हरित (गीली) वनस्पति एवं त्रस जीवो से रहित भूमि पर मलमूत्र विसर्जन करना प्रतिष्ठापना या उत्सर्ग समिति है।

इन ५ समितियों एवं ३ गुप्तियों को प्रवचन मातृकायें (८ प्रवचन मातायें) कहते हैं। ये आठों मातायें मुनि के रत्नत्रय रूप धर्म का रक्षण करती है।

प्रश्न ३२– पन्चेन्द्रिय का निरोध अथवा पंचेन्द्रिय विजय ?

उत्तर— पन्चेन्द्रिय विजय— इन्द्रिय विजय के लिए उनके विषय भूत विषयों का मन, वचन, काय से सम्यक् परित्याग करना पन्चेन्द्रिय विजय है।

प्रत्येक इन्द्रिय की विषय चाह अनंत है। एक के बाद एक लगातार विषय वासना की इच्छा बढ़ती ही चली जाती है। चक्रवर्ती सम्राट की विभूति भी इन्द्रियों के विषय के सामने नगण्य हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्द्रिय विषयों की सतत, पूर्ति उनकी शांति का समीचीन मार्ग नहीं है बल्कि अपनी इच्छाओं का परिसीमित ही सुख शांति का यथार्थ सुपरीक्षित मार्ग है। यही कारण है कि श्रमण संत इन्द्रियों की विषय तृप्ति न कर विषय तृष्णा का सम्यक् निरोध करते है।

एक एक इन्द्रिय विषय की तृप्ति के लिए प्राणी अपना जीवन उत्सर्ग कर देते हैं। कुंजर (हाथी) मीन; मधुप (अलि) शलभ (पतंग) एवं मृग। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं:—

१ स्पर्श इन्द्रिय विजय— ८ प्रकार के स्पर्शों में रागद्वेष नही करना।

२ रसना इन्द्रिय विजय – ६ प्रकार के रसों में रागद्वेष नहीं करना।

३ घ्राण इन्द्रिय विजय— सुगन्ध, दुर्गन्ध मे रागद्वेप नहीं करना।

४ चक्षु इन्द्रिय विजय— चक्षु इन्द्रिय से दिखाई देने वाले वर्णों (रंगों) में रागद्वेप का परित्याग करना।

५ श्रवणेन्द्रिय विजय – प्रिय, अप्रिय स्वरों मे रागद्वेष का अभाव होना।

प्रश्न ३३– साधु के षट आवश्यक कार्य ?

उत्तर— कृपया आचार्य षट आवश्यक देखिये (प्रश्न २६)

प्रश्न ३४- सप्त शेष गुण कौन कौन से हैं उनका क्या स्वरूप है?

उत्तर— श्रवण साधु के सप्त शेष गुण निम्नांकित हैं:—

१ आचेलक्य
२ अस्नान
३ अदन्तधावन
४ एकाहार
५ स्थितिहार (खडे खड़े आहार लेना)
६ भूशयन
७ केशलुंचन

परम सत्य की प्राप्ति के लिए निकलने वाला पथिक बाह्य उलझनों मे कदापि लिप्त नहीं रह सकता। उसका जीवन तो सहज प्राकृतिक एवं निरावाध होना चाहिए। आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता को स्वीकार करने वाला महामानव शरीर की परतन्त्रता कैसे स्वीकार कर सकता है।

यही कारण है कि दिगम्बर श्रमण संस्कृति में दीक्षित सन्त सम्पूर्ण प्रतिकूल सामग्री का पूर्ण रूप से त्याग कर देते हैं। जो आत्म शान्ति की प्राप्ति में बाधक होती है।

श्रमण साधु के सप्त शेष गुण निम्नलिखित हैं.—

१ आचेलक्य— आंतरिक विकारों की चरम शांति हो जाने पर नग्न रहना उसकी बाह्य प्रतिच्छाया मात्र है। महा श्रमण दिगम्बर साधु का जीवन एक खुली किताब है। जिसका प्रत्येक पृष्ठ स्वयं में पूर्ण एवं स्पष्ट होता है। निर्विकार अवस्था में नग्नत्व अनिवार्य है। वाकवत निर्विकार, निश्चल मुद्रा ही वीतरागता का दिग्दर्शन करती है।

२ अस्नान— स्नान बाह्य शुद्धि का आंशिक साधन है किन्तु जो आन्तरिक विकारों की शुद्धि की ओर प्रवृत्त हैं वे बाह्य शुद्धि की ओर कैसे प्रवृत हो सकते हैं?

धूप स्नान ही उनकी बाह्य शुद्धि का सर्वोत्तम साधन है जो विकारों की शांति के साथ ही शरीर के तथा रागादिक की शांति की प्राकृतिक एवं शर्तियां दवा है। उनका शरीर वैराग्य की साकार प्रतिमा होने पर ही अन्य रागी मानवों के मन में विरागता का भाव लाने में सहाय हो सकता है।

३ अदन्तधावन— वीतरागता के उपासक दिगम्बर श्रमण दिन मे एकबार निर्दोष सात्विक रस रहित आहार एवं गर्म प्रासुक जल ग्रहण करते है एवं भोजन के पश्चात गर्म पानी से ही मुंह साफ करते है जिससे अन्न कण एवं दांतो का मल पूर्ण रुप से बाहर निकल जाता है अतः उन्हे दन्त धावन की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

४ एकाहार— दिवस में एक बार आहार लेना।

५ स्थितिहार— खड़े होकर आहार लेना।

आत्मा एवं शरीर भिन्न भिन्न है। इस भेद विज्ञान को स्वीकार करने वाला श्रमण शरीर से वास्तविक निर्ममत्व को प्रगट करने के लिए स्वयं आदर्श होता है; उस आदर्श की अभिव्यक्ति उसके जीवन में न आये ऐसा संभव ही नहीं।

अतः दिन में एक बार खड़े खड़े पाणि पात्र में निर्दोष सात्विक आहार ग्रहण करना, उसकी वीतरागता की सच्ची उपासना को दर्शाता है।

६ भूशयन करना— समता का साकार महासमुद्र प्रतिकूल परिस्थिति में भी अपनी परम सत्य की साधना को अबाधित रूप मे गतिमान रखते हुए साध्य की पूर्णता को प्राप्त कर लेना है। इसकी ओर इंगित करते हुए समता एवं क्षमा का यह अपूर्व सम्मिलन जन जन के मन में वीतरागता का भाव जागृत कर देता है।

महल एवं श्मशान जिनकी दृष्टि मे समान है ऐसा श्रमण निर्जनः शांत वनोभूमि पर एक करवट से अल्पकाल तक शयन

करके पुनः षट आवश्यक परिपालन करते हुए आत्मलीन रहते हैं।

७ केशलुन्चन करना— आंतरिक विकारो की शुद्धि में लगा हुआ श्रमण साधक, बाह्य विकारों को भी निर्मोह भाव से समाप्त कर देता है, इसका प्रतीक यह केशो का हाथ से उखाड देना है जो पर्ण स्वतन्त्र जीवन दर्शन का आदर्श स्वरूप है।

अत. ये सप्त शेष गुण श्रमण सम्कृति की निजी विशेषता है जो सत्यसाधक की सत्य साधना में "मील" के पत्थरवत् विकार शमन के परिचायक है।

प्रश्न ३५– णमोकार मंत्र को किसने बनाया है?

मन्त्र शब्द मन् धातु में प्रत्यय लगाकर बनाया गया है। इसकी निरुक्ति निम्न तीन प्रकार से की जा सकती है।

१ "मन्यते ज्ञायते आत्मा देशोऽनेन इति मंत्रः" अर्थात जिसके द्वारा आत्मा का आदेश निजानुभव जाना जाय वह मन्त्र है। अथवा

२ मन्यते विचार्यते आत्मादेशो येन स मंत्रः अर्थात जिसके द्वारा आत्मादेश पर विचार किया जाय वह मंत्र है। अथवा

३ "मन्यन्ते सत्क्रियन्ते परपदे स्थिता. आत्मान. वा यक्षादि शासन देवता अनेन इति मन्त्रः अर्थात जिसके द्वारा परमपद में स्थित पंच सर्वोच्च आत्माओं का अथवा यक्षादि शासन देवों का सत्कार किया जाय वह मंत्र है।

अत जिसके द्वारा परमपद मे स्थित पंच परमेष्ठियों सदृश निज आत्मा की अनुभूति रुप ध्यान द्वारा परमपद (मोक्ष) को प्राप्त किया जाए वह मन्त्र है।

वैदिक धर्मानुयायियों मे जो ख्याति एवं प्रचार "गायत्री मंत्र" का बौद्धों मे "त्रिशरण मंत्र" का है, जैनों मे भी वही ख्याति एवं प्रचार "णमोकार मन्त्र" का है।

णमोकार मंत्र अनादिनिधन मन्त्र है। अनादि मन्त्र इस लिए कहते हैं क्योंकि जिन पंच परमेष्ठियों को इसमें नमस्कार किया गया है वे अनादि हैं। दूसरा कारण यह है कि प्रत्येक तीर्थङ्कर के कल्पकाल में इसका अस्तित्व रहता है। प्रत्येक कल्प-काल में होने वाले तीर्थङ्कर के द्वारा इसके अर्थ का और उनके गणधरों के द्वारा इसके शब्दों का निरुपण किया जाता है। इस प्रकार तीर्थङ्करो की परम्परा और गुरु परम्परा से यह अनादिकाल से चला आ रहा है। अतः स्पष्ट है कि अर्थ परम्परा से यह मन्त्र अनादिनिधन है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परानुसार शब्द रुप में इस मन्त्र का व्याख्यान एवं प्रणयन, प्रत्येक कल्पकाल में अवश्य होता है। परन्तु दिगम्बर परम्परानुसार इस मन्त्र का कोई नवीन रचियता नहीं है, मात्र इसके व्याख्याता ही पाये जाते है।

वास्तव में सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान ने अपनी दिव्यध्वनि मे जिन तत्वों का प्रकाशन किया, गणधर देव ने उन्हें द्वादशांग वाणी का रूप दिया। अतएव अनादि द्वादशाँग वाणी का अंग होने से यह महामन्त्र अनादि है।

प्रश्न ३६— णमोकार मंत्र के जाप और चिन्तन से क्या लाभ हैं?

उत्तर— णमोकार मंत्र के जाप और चिन्तन से निर्विघ्न रुप से अचिन्त्य निराबाध; शिवसुख की प्राप्ति होती है। इस मन्त्र के जाप से समस्त पाप समाप्त होकर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। इसके जाप एवं चिन्तन से जिस उत्कृष्ट पुण्य का संचय होता है वह अनेक प्रकार की लोकिक विभूतियों के साथ मोक्षमार्ग की साधना में साधक को सहायता प्रदान करता है। इस मन्त्र का जाप एवं उच्चारण साधक को रत्नत्रय गुण से विभूषित आत्माओं के अधिक समीप हो जाता है।

उनके गुणों के चिन्तन से मन एकाग्र होता है जिससे परम साधना से शुक्ल ध्यान पूर्वक आत्मध्यान की सिद्धि हो जाती

है। तथा धर्म में परमश्रेष्ठ सिद्ध पद की प्राप्ति होती है। इस मन्त्र में अद्भुत शक्ति निहित है जो भूत; पिशाच; डाकिनी, सर्प सिंह, अग्नि एवं हलाहल विष आदि लौकिक बाधाओं को स्मरण मात्र से क्षण मात्र मे ही समाप्त कर देती है।

णमोकार मन्त्र का सही उच्चारण तीन श्वासोच्छ्वास में करना चाहिए। प्रथम श्वास छोडते समय णमो अरहन्ताणं एवं श्वॉस ग्रहण करते समय णमो सिद्धाणं पुनः श्वास छोडते समय णमो आइरियाणं एवं श्वास ग्रहण करते समय णमो उवज्झायाणं एवं पुन श्वांस छोडते समय णमो लोए एवं श्वास ग्रहण करते समय सव्वसाहूणं। इस प्रकार इन तीन श्वासोच्छ्वास में एक वार णमोकार मन्त्र का सही उच्चारण होता है।

प्रश्न ३७– णमोकार मंत्र का जाप कैसे किया जाय ?

उत्तर— इस णमोकार मन्त्र के जाप्य करने की तीन विधिया हैं। कमल जाप्य; हस्तागुलि जाप्य एवं माला जाप्य।

जाप – "जाप" प्रतीक के रूप मे मन, वचन, काय में कृत कारित अनुमोदन द्वारा समरम्भ; समारम्भ, आरम्भ पूर्वक क्रोध; मान; माया, लोभ। इन चार कषायों की पुट होने से इनके परस्पर संगुणन द्वारा प्राप्त १०८ प्रकार के पापों का स्मरण दिलाकर उनके नाश के लिए की जाती है (३×३×३×४=१०८)

जाप करने से हमारे अन्दर विशुद्धता आती है। जिससे चंचल मन की एकाग्रता होने से पाप का क्षय एवं आत्मध्यान की सिद्धि होती है।

१ कमल जाप— अपने हृदय मे आठ पाखुडी के कमल का चिन्तन करें इसकी प्रत्येक पाखुडी पर पीत वर्ण के वारह-वारह विन्दुओं का चिन्तन करें तथा मध्य के गोल वृत कर्णिका में वारह विन्दुओं का चिन्तन करें। इन १०८ विन्दुओ के प्रत्येक विन्दु पर एक-एक वार णमोकार मन्त्र का जाप करें। कमल की आकृति बनने के कारण ही यह जाप कमल जाप कहलाता है।

२ हस्तांगुलि जाप-इस जाप में पहिले दाहिने हाथ की मध्यमा (बीच की अंगुली के मध्य के पौरुये) पर णमोकार मन्त्र को पढ़े फिर उसी अंगुली के ऊपरी पौरुये पर, फिर क्रमशः तर्जनी के ऊपर; मध्य एवं निचले पौरुये पर, फिर मध्य अंगुली के निचले पौरुये पर, फिर अनामिका के साथ वाली अंगुली के, क्रमशः निचले मध्य एवं ऊपर के पौरुये पर एक-एक बार णमोकार मन्त्र को पढ़ते हुए ॐ (ओंम) के प्रतीक रुप आकृति बनाते हुए ६ बार णमोकार मन्त्र पढ़ें। यही क्रम पुनः १२ बार दुहरावें। इस तरह १२×६=१०८ इस प्रकार से णमोकार मन्त्र का जाप करने मे एक अगुली जाप पूरा होता है।

३ माला जाप— तृतीय जाप माला जाप है। इसमें १०८ बार णमोकार का शुद्ध उच्चारण करते हुए जाप किया जाता है।

जाप का मूल लक्ष्य चित्त की एकाग्रता को प्राप्त कर ध्यान की सिद्धि करना है। जाप की उपर्युक्त विधियों के अलावा पूज्य आचार्य विद्यासागर की सिद्धि में अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं सहायक है अतः उसे भी यहां दिया जा रहा है।

शांत एकांत स्थान या मंदिर मे सुखासन अथवा पद्मासन से कमर को सीधा करते हुए बैठ जाइये एवं आखों को बन्द कर दीजिए एवं अब एक कल्पित घड़ी की ओर दृष्टि डालते हुए १२ के अंक पर रुक जाइये। अब णमोकार मन्त्र का तीन श्वासोच्छ्वास पूर्वक मन में शुद्ध उच्चारण करिए और एक बार उच्चारण हो जाने पर एक के अंक पर दृष्टि डालिए। पुनः यही क्रम दुहराते हुए क्रमशः १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२। इस तरह से १२ के अंक तक आइये। पुनः इसी क्रिया को ९ बार कीजिए। इस तरह १२×९=१०८। इस प्रकार णमोकार मन्त्र की एक माला पूर्ण हो जाती है।

इन ९ अंक की स्मृति आसानी से मन में रक्खी जा सकनी है इस प्रकार इस जाप में मन विशेष रूप से एकाग्र हो जाता है।

मन को अधिक एकाग्र करने के लिए णमोकार मन्त्र के प्रत्येक पद को घड़ी के एक एक मिनिट वाले अंक को दृष्टि में रखते हुए पढ़ा जा सकता है। इस तरह से मन अन्य समस्त बाह्य विकारों एवँ चिन्ताओं से निवृत्त होकर मन्त्र की जाप मे तल्लीन हो जाता है।

नोट—

णमोकार मन्त्र के प्रत्येक पद का उच्चारण करते हुए जिस पद मे जिन का नाम आता है; उन्हे भाव नमस्कार करते जायें, तभी चित्त की एकाग्रता तथा ध्यान की सिद्धि सँभव है।

जाप करने के पश्चात विशुद्ध, प्रफुल्ल मन से जिनेन्द्र भगवान के स्वरूप का चिन्तन करते हुए उनके चरणो मे द्रव्य एवं भाव दोनों प्रकार से नमस्कार करना चाहिए।

इस मन्त्र के उपास्य देवता उत्कृष्ट परम मंगलमयी आत्मायें हैं। जिनके स्मरण मात्र से मन पवित्र हो जाता है। एवं समस्त वासनायें, मानसिक उद्वेग एवं मानसिक विकार क्रमशः क्षीण होकर के समाप्त हो जाते है। जिससे मानव अपने शुद्ध स्वरुप की प्राप्ति की ओर अग्रसर होकर परमात्म पद को प्राप्त कर लेना है।

अत: णमोकार मन्त्र न केवल लौकिक वल्कि पारलौकिक लक्ष्य धर्म की प्राप्ति कराता है।

प्रश्न ३८– धर्म किसे कहते हैं?

उत्तर— धर्म शब्द का निरुक्ति अर्थ है, धरतीति धर्मः अर्थात जो संसार के दुखों से निकालकर उत्तम सुख में धारण करावे, वह धर्म है किन्तु धर्म शब्द का वाच्यार्थ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एवं सम्यकचारित्र रूप रत्नत्रय धर्म है। आचार्य सोमदेव सूरि ने अपने नीतिशास्त्र में धर्म का लक्षण देते हुए लिखा है कि—

"यतोभ्युदय निः श्रेयस सिद्धिः स धर्मः"

अर्थात जिससे लोक कल्याण एवं दुखों की आत्यंतिक (सर्वथा) निवृत्ति हो उसे धर्म कहते हैं।

यह उदाहरण धर्म के सामाजिक पक्ष की ओर इंगित करता है। वास्तव मे मानव जीवन को सतत् गतिशील बनाये रखने के लिए एवं ऐहिक और पारलौकिक जीवन के परम इष्ट की प्राप्ति मे प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रुप से सहायक तत्व को धर्म कहते हैं।

आचार्यों ने धर्म की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। पूज्य कुन्दकुन्दाचार्य ने "वत्थु सहावो धम्मो"। पदार्थ के स्वभाव को ही धर्म कहते है। अतः आत्मा का ज्ञाता दृष्टा रुप स्वभाव ही उसका धर्म हैं। कुछ आचार्य उत्तम क्षमादि रुप दस धर्मों को धर्म कहते है, कुछ आचार्य "चारित्तं खलु धम्मो" आत्मा की शुद्ध परिणति रुप चारित्र को धर्म कहते है और कुछ आचार्य जीवदया को ही धर्म कहते हैं। स्वामी कार्तिकेय ने कार्तिकेय अनुप्रेक्षा मे इन समस्त लक्षणों को सूत्ररुप मे लिखा है कि—

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो
चारित्त खलु धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो।

समन्त भद्राचार्य द्विविध रत्नत्रय धर्म को ही धर्म कहते हैं

यदि विचार किया जाय तो ये सभी लक्षण वस्तुगत् किसी स्वभाव विशेष की ओर ही संकेत करते है। अतः यदि धर्म का समीचीन एवं काल निर्पेक्ष लक्षण बनाया जावे तो वह होगा।

"वत्थु सहावो धम्मो"।

अतः आत्मा के शुद्ध ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को ही धर्म कहते हैं और इसकी पूर्ण प्राप्ति मे जो तत्व सहायक हों वे भी उपचार से धर्म कहे जाते है।

प्रश्न ३६— धर्म की प्राप्ति किन किन के माध्यम से होती है?

उत्तर— धर्म की प्राप्ति सच्चे देव, शास्त्र, गुरु एवं स्व-स्वरूप के आलम्बन लेने से होती है।

भारतीय ऋषियों ने मानव जीवन के क्रमिक विकास के लिए एवं मोक्ष को साध्य के रूप में एवं धर्म अर्थ एवं काम को साधन के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने धर्म को इन चार पुरुषार्थ की श्रंखला में प्रथम स्थान दिया है। इसका कारण स्पष्ट है कि धर्म मानव के समस्त नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन को प्रभावित करता है। जिनका जीवन धर्ममय है, उनका अर्थ एवं काम भी परम्परा से मोक्ष की सिद्धि में सहायक होता है कि जीवन का एक मात्र परम लक्ष्य है। जिनका व्यवहारिक जीवन चारित्रमय; नियमबद्ध एवं आत्म निष्ठ नहीं उनके जीवन में परम सत्य की अनूभूति "स्वानुभूति" कदापि नहीं हो सकती, भूमि शुद्धि के बिना बीज से अंकुर निकल नहीं सकता।

इस धर्म की प्रेरणा हमें उन्हीं से प्राप्त हो सकती है जिन्होंने स्वयं उत्कृष्ट सत्य की प्राप्ति कर ली है एवं जो उन्हीं के पद चिन्हों पर चलते हुए उस परम तत्व साधना में तल्लीन हैं अतः यथार्थ धर्म की प्राप्ति हमें सच्चे देव, सच्चे गुरु एवं उनके मुख से निकली हुई कल्याण मयी वाणी अर्थात सच्चे शास्त्र के द्वारा ही हो सकती है।

प्रश्न ४०— क्या खोटे देव, शास्त्र, गुरु भी होते हैं?

उत्तर— हाँ खोटे देव, शास्त्र; गुरु भी होते हैं।

प्रश्न ४१— खोटे देव किन्हें कहते है?

उत्तर— जिनमें विकारों की परिसमाप्ति नहीं हुई है जो जन्म, मरण आदि सांसारिक उपाधियों एवं बाह्य संसर्गों तथा

विभिन्न अस्त्र शस्त्रों से सहित पर पदार्थों में इष्ट अनिष्ट की बुद्धि रखने वाले है। जगत के कर्ता; धर्ता माने जाते है ऐसे समस्त देवताओं को कुदेव कहा जाता है।

गीता मे देव के स्वरूप का स्पष्ट विवेचन करते हुए कहा गया है कि—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्म फल संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥
नाऽत्ते कस्य चितपापं, न कस्य सुवृतं विभुः
अज्ञानेनावृत ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ (अध्याय ५)

ईश्वर लोक का कर्ता नहीं है, न प्राणियों के कर्मों को रचता है, न कर्म फल संयोग को करता है, किन्तु लोक की प्रवृत्ति स्वाभाविक रुप से ही हो रही है। ईश्वर न किसी के पाप को लेता है न पुण्य को। वास्तव मे अज्ञान से दूषित प्राणियों का ज्ञान हो रहा है; जिसमें कि ये प्राणी पर वस्तु मे मोहित हो रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त स्वभाव से विरुद्ध स्वभाव वाले समस्त देव कुदेव है।

कुदेवों के सेवन से इस प्राणी का अनादि कालीन मिथ्यात्व पुष्ट होता है। एवं वर्तमान जीवन की समाप्ति गलत मार्ग में रहते हुए ही हो जाती है जिससे अनंत सँसार के दुखों को भोगना पड़ना है।

प्रश्न ४२– खोटे शास्त्र किन्हें कहते हैं ?

उत्तर– कुदेवों द्वारा सृजित एवं विषयाभिलाषी संसारी जीवों के द्वारा अपनी विषय कषाय की पुष्टता के लिए लिखे गये संसार मार्ग को बताने वाले समस्त शास्त्र कुशास्त्र हैं। जिनमें पदार्थों के यथावत् स्वरूप का विवेचन न कर कषाय के वशीभूत एकान्तमार्ग को स्वीकार कर अनेकान्त तत्व की स्याद्वाद पद्धति का विलोपन किया गया है। जिन शास्त्रों में जीव हिंसादि पापों का धर्म के छल से विवेचन किया गया है, जो प्रत्यक्ष एवं परम्परा

से सँसार मे दुख दिलाने के ही निमित्त भूत हैं, जिनमें जीवों को अनादि कालीन मिथ्यात्व भाव पुष्ट होता जाता है एवं स्व-स्वरुप की प्राप्ति अत्यन्त कठिन हो जाती है। ऐसे समस्त शास्त्र इसी के अन्तर्गत आते हैं।

प्रश्न ४३- खोटे गुरु किन्हें कहते हैं ?

उत्तर— जो विषय भोगों मे आसक्त होकर, कषाय वश यश कीर्ति एवं पूजादि की लालसा से; कुतप तप तपते हुए जो विभिन्न प्रकार के खोटे लिंग धारण किये हुए हैं वे सभी ढोंगी; पाखण्डी, ठग एवं कुवेषी, कुगुरु कहलाते हैं। जो स्वयं सत्य के प्रकाश से वंचित, मिथ्यादर्शन से भ्रमित एवं मिथ्यामार्ग मे रत है तथा जिनकी निर्पेक्ष एकान्त आंखों के सामने से स्याद्वाद रुपी सत्य ओझल हो गया है; ऐसे विषय लोलुपी रागद्वेषादि विकारी भावों से सहित पाखण्डी, मिथ्याचारी, ख्याति लाभ की उत्कृष्ट चाह रखने वाले भव समुद्र से पार होने के लिए उपल अर्थात पत्थर की नाववत् गुरु खोटे गुरु कहलाते हैं।

इनके संबध मे आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य ने दर्शन पाहुड़ मे लिखा है कि—

जे दसणेसु भट्टा णाणे भट्टा चरित्त भट्टाय।
एदे भट्ट विभट्टा से संपि जणं विणासति ॥८॥

जो दर्शन से भ्रष्ट है, ज्ञान से भ्रष्ट है, चारित्र भ्रष्ट है वे जीव भ्रष्ट से भ्रष्ट है। और जो भी जीव उनका उपदेश मानते है; उन जीवों का भी नाश करते है बुरा करते है।

उसी दर्शन पाहुड में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है कि—

एग जिणस्स रूवं वीयं उक्किट्ठसावयाण तु।
अवरट्ठियाणं तइय चउत्थ पुण लिंगदसण णात्थि ॥१८॥

एक तो जिन स्वरूप निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिलिंग, रुप दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का रुप दसवीं ग्यारवीं प्रतिमाधारी क्षुल्लक ऐलक का

लिग; तीसरा आर्यिकाओं का लिंग, ऐसे यह तीन लिंग तो श्रद्धान पूर्वक हैं। तथा चौथा कोई लिंग सम्यग्दर्शन स्वरुप नहीं है।

भावार्थ— इन तीन लिंग के अतिरिक्त अन्य लिंग धारण करने पर जो अपनी कीर्ति एवं पूजा प्रभावना चाहते है वे भी नियम से ही मिथ्यादृष्टि होगे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कुगुरु स्वयं अपना अकल्याण तो करते ही हैं किन्तु भवसमुद्र के पार होने के इच्छुक व्यक्ति को भी अपने संसर्ग मे आने पर उपल नाववत् ले डूबते हैं।

प्रश्न ४४— सच्चे देव किन्हें कहते हैं ?

उत्तर— सर्वज्ञ, वीतराग एवं हितोपदेशी देव को सच्चे देव कहते हैं। जिन्होने स्वयं के रागद्वेषादि विकारी भावों को तप एवं ध्यान के द्वारा पूर्ण रुप से नष्ट कर दिया है जिसके फल स्वरुप तीन लोक के समस्त पदार्थों को युगवत् यथार्थ स्पष्ट रुप से जानने वाला केवलज्ञान प्रगट हुआ है एवं जिनके मार्ग का अनुमान करने पर हम भी अपने शुद्ध स्वरुप को नियम से प्राप्त कर सकते है ऐसे परम वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी देव को सत्य भगवान कहते है। उनका नाम कुछ भी हो; भारतीय मनीषी निष्पक्ष हृदय से देव का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि –

भव वीजांकुर जनना, रागपद्या: क्षयमुपागता यस्य
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।

ससार परिभ्रमण के वीजांकुरों को उत्पन्न करने वाले अर्थात संसार के कारण रागद्वेषादि मलिन भाव जिनके नष्ट हो चुके, उस परम प्रभु को मेरा नमस्कार हो, फिर उसका नाम ब्रह्मा हो या विष्णु हो या महेश हो या जिन जिनेश्वर हो। (सत्य की ओर)

प्रश्न ४५— सच्चे शास्त्र किन्हें कहते हैं

उत्तर— जिनेन्द्र वाणी के अनुसार, जिन लिंगधारी, तत्ववेत्ता स्याद्वाद रुप शैली से विभूषित आचार्य; उपाध्याय या साधुओं

के द्वारा तथा कषाय एवं पक्षपात से रहित विद्वानों के द्वारा रचित शास्त्र सच्चे शास्त्र कहलाते हैं।

परम सत्य को प्राप्त हुए सत्य भगवान द्वारा कही गई वाणी का संकलन ही सत्य शास्त्र कहा जाता है।

जिस शास्त्र के द्वारा निहित मार्ग पर सम्यक् रूप से चलने से ससार के परिभ्रमण से मुक्ति चाहने वाला साधक, अपनी पूर्ण स्वतंत्र दशा को प्राप्त कर सकता है, उसे सत्य शास्त्र कहते हैं। निश्चित ही ऐसे शास्त्र मे विश्व का एवं स्वयं अपनी आत्मा का यथार्थ सत्य स्वरूप ही निबद्ध किया गया होगा "विश्व का चरम आश्चर्य मैं कौन हूँ" इस प्रश्न का यथार्थ समाधान एवं उसकी प्राप्ति का यथार्थ मार्ग उसमें वर्णित किया गया होगा। ऐसा शास्त्र पक्ष व्यामोह से रहित, सत्यार्थ देव द्वारा कहा गया गणधर द्वारा प्रसारित, परम्परा बद्ध आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा लिखित तत्व के त्रिकाल अबाधित, यथार्थ स्वरूप का दर्शन वाला, सत्यमार्ग का उपदेशक एवं मिथ्यामार्ग का निवारक ही होगा।

प्रश्न ४६– सच्चे गुरु किन्हे कहते हैं?

उत्तर— विषयाशा रहित, ख्याति लाभ पूजा की भावना से परे; ज्ञान ध्यान तप मे लीन तथा स्व पर हितैषी, मोक्षमार्गी साधु को सच्चे गुरु कहते है।

विश्व एवं स्वयं के यथार्थ स्वरूप को जिन्होंने स्पष्ट तया जान लिया है एवं अपने स्वयं की पूर्ण शुद्ध दशा की प्राप्ति के लिए ससार के समस्त आरम्भ कार्यों से स्वयं को अलग कर, संसार शरीर एवं विषयो का आशा से रहित होकर यथावत रूप नग्नत्व दशा को स्वीकार किया है एवं सदा आत्मज्ञान एवं आत्मध्यान की पूर्ण सिद्धि मे सतत प्रयत्न शील है, ऐसे परम दिगम्बर श्रमण संत ही सत्य गुरु हो सकते है। ऐसे गुरु के ही सबंध मे श्रमण सन्त आचार्य नेमिचन्द्राचार्य ने लिखा है कि—

दंसण णाण समग्ग मग्ग मोक्खस्स जो हु चारित्त,
साधयदि णिच्च सुद्धं साहु सो मुणि णमो तस्स ।५४। (द्रव्यसंग्रह)

—सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान से सहित; मोक्ष के एक मात्र यथार्थ मार्ग सम्यक् चारित्र को जिन्होंने स्वीकार किया है एवं सतत अपने परम शुद्ध दशा की साधना में तल्लीन रहते हैं; ऐसे मुनि श्रमण सन्त को नमस्कार हो।

ऐसे श्रमण सन्त ही हमारे जीवन में व्याप्त अज्ञान—अंधकार को समाप्त कर प्रकाश ज्योति रूप परम सत्य का दिग्दर्शन करा सकते है। धन्य हैं ऐसे श्रमण सन्त—

अज्ञान तिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

प्रश्न ४७– देव दर्शन और पूजा स्तवन क्यों ?

उत्तर— देव दर्शन से आत्मदर्शन होता है एवं अपने आत्म गुणों की ओर दृष्टि जाती है तथा मन वचन एवं काय की एकाग्रता से ध्यान की सिद्धि होती है।

परम वीतरागता की प्राप्ति के लिए वीतराग प्रभु के दर्शन एवं उनकी पूजा, स्तवन, अत्यन्त अनिवार्य है। यद्यपि भगवान स्वयं वीतराग होने से किसी की स्तुति, वंदना आदि से प्रसन्न नहीं होते और न ही किसी की निन्दा से क्रुद्ध होते हैं, परन्तु उनके दर्शन या पूजा–स्तवन से हमारे अंदर जितने अंशों में राग समाप्त होता है अर्थात वीतरागता आती है, उतने अंशों में निर्जरा होती है एवं जितने अंशों में शुभ राग विद्यमान रहता है उससे धर्म साधन के कारणभूत अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होती है। इस तरह से देव दर्शन एवं पूजा भक्ति साक्षात एवं परम्परा से मोक्ष का कारण होती है। भक्ति एवं विनय के साथ भगवान की आदर्श प्रतिमा के दर्शन एवं पूजा स्तवन से हमारी दृष्टि अपनी आत्मा के अनन्त गुणों की ओर जाती है। और उनको प्रकट करने के लिए यथार्थ पुरुषार्थ की ओर हमारी प्रवृति होती है। इसी को लक्ष्य में रखते हुए कहा गया है कि—

जिन दर्शन, निज दर्शन खातिर।
निज दर्शन, जिन दर्शन है॥

भगवान के दर्शन एवं पूजा स्तवन से हमारी मन वचन काय की जो एकाग्रता होती है, वह परम्परा से ध्यान सिद्धि एवं भेद विज्ञान रुप परम समाधि में निमित्त कारण होती है। यद्यपि पूजन सामग्री एकत्रित करने में किंचित द्रव्य हिंसा एवं शुभ भाव से किंचित भाव हिंसा भी होती है। किन्तु उसके परिणाम स्वरुप जो अनन्त पुण्य का संचय होता है, उसके सामने वह नगण्य है। यही कारण है कि श्रावक के षट्-आवश्यकों में इसे प्रथम आवश्यक के रुप में रखा गया है।

प्रश्न ४८— शास्त्र की विनय और स्वाध्याय करने से क्या लाभ हैं?

उत्तर— विनय से बुद्धि पवित्र बनती है, अर्थात विद्या आती है, स्वाध्याय से ज्ञान आता है। और विषयों में रमा हुआ मन एकाग्र हो जाता है। अतः स्वाध्याय से ज्ञान और ध्यान की सिद्धि होती है।

शास्त्र के अध्ययन से स्वयं का अध्ययन करना; "मै कौन हूँ" एवं मेरा स्वरूप क्या है" इस पर चिन्तन-मनन करना स्वाध्याय है। यद्यपि अवधि एवं मनः पर्ययज्ञान आत्मज्ञान में हेतु नहीं है किन्तु श्रुतज्ञान रुप शास्त्र ज्ञान, आत्मज्ञान होने में हेतु है। अत ज्ञान प्राप्ति के लिए शास्त्रों की विनय करना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि विनय से बुद्धि पवित्र होती है एवं ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से विद्या शीघ्र आती है।

सतत ज्ञानार्जन से पर पदार्थ में उपादेय बुद्धि रुप राग भाव क्षीण होता है जिससे रत्नत्रय की प्राप्ति सरल हो जाती है यही कारण है कि आचार्यों ने इस "पंचम काल मे स्वाध्याय को ही परम तप कहा है"। क्योंकि स्वाध्याय से ज्ञान एवं ध्यान की सिद्धि नियम से होती है। शास्त्र स्वाध्याय से हो भी सकती है और नहीं भी।

प्रश्न ४९– गुरुओं की सेवा भक्ति तथा आहारादि दान क्यों?

उत्तर— दिगम्बर श्रमण सन्तों को देखकर हमारे मन मे समता का प्रादुर्भाव होता है एवं आत्मा की उस अनन्त शक्ति

की ओर लक्ष्य जाता है। जिसे श्रमण सन्तों ने प्रगट कर लिया है। उनके दर्शन मात्र से हमें संसार की असारता का बोध एवं सम्यक् चारित्र रुप मोक्षमार्ग में कदम बढाने की प्रेरणा मिलती है। उनकी वैयावृत्ति से हमारे अन्दर पवित्रता एवं विनय गुण का उद्भव होता है जिससे हमारी बहिर्दृष्टि अन्तर्मुखी होकर अपने यथार्थ स्वरुप को पहिचानने की ओर प्रवृत्त होती है। पूज्य गुरुओं को आहार दान देते समय हमारे मन में आल्हाद के साथ यह भावना उत्पन्न होती है कि वह शुभ दिन कब आये; जब हम भी ऐसी ही दिगम्बर मुद्रा में आकर पाणिपात्र में खड़े खड़े आहार करें एवं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की साधना कर सर्व दुखों से परे मोक्ष की प्राप्ति करें।

प्रश्न ५०– दुखों का मूल कारण ?

उत्तर— दुखों का मूल कारण मिथ्यात्व, कषाय, व्यसन, पाप और खोटी इच्छाएं हैं। इन सब का जनक रागद्वेष है।

समस्त दुखों का मूल कारण इच्छा की उत्पत्ति है। पर पदार्थ शरीर आदि में अहंभाव "शरीर रुप मैं हूँ" एवं ममत्व भाव "शरीर मेरा है"। इस प्रकार का जो अध्यवसाय भाव है, वही दुख का मूल कारण है और यदि सूक्ष्म रुप से विचार किया जाय तो शरीर के प्रति अत्यन्त राग ही दुख का मूलकारण है क्योंकि जितनी भी हमारी इच्छाएं एवं कार्य होते हैं वे समस्त मूलतः शरीर के ही सुख सुविधाओं के लिए होते हैं। हम शरीर के सिवाय अन्य बाह्य पदार्थों को छोड़ सकते हैं लेकिन जहां शरीर एवं उसकी विषय पूर्ति का प्रश्न उत्पन्न होता है वहां हम चूक जाते हैं। यही कारण है कि वह भेद विज्ञान "आत्मा एवं शरीर भिन्न भिन्न है" यहां आकर असफल हो जाता है। अर्थात वाङमय का आलोडन करने पर एवं उसका हृदय हारी यथार्थ तत्व विवेचक उपदेश एवं प्रवचन करने पर भी इतना स्पष्ट और सरल भेद विज्ञान सम्पूर्ण जीवन में भी नहीं हो पाता। लेकिन जिन्होने पदार्थ के यथावत् स्वरुप को समझकर संसार

शरीर -भोगों की आत्यांतिक निवृति रुप अपनी इच्छा को सीमित किया है। वें ही सत्य--निष्ठ मानव परम सत्य को प्राप्त -करने मे सफल हुए है।

प्रश्न ५१— मिथ्यात्व किसे कहते हैं यह कितने प्रकार का होता है

उत्तर— तत्वों की श्रद्धा अथवा विपरीत मान्यताओं को मिथ्यात्व कहते हैं। पदार्थ के यथावत् स्वरुप को स्वीकार न कर अपनी कषाय के वशीभूत; सत्य, आप्त एवं सत्य गुरुओं की दृष्टि एवं वाणी में आये हुए अनेकान्तमक वस्तु स्वरुप की साधक स्वाध्याय शैली को स्वीकार न कर मात्र एकान्त रुप से निश्चय या व्यवहार मोक्षमार्ग रुप रत्नत्रय को स्वीकार करना मिथ्यात्व कहलाता है। ऐसे मूढ़ कषायी दृष्टि जीव भगवान देवादि देव अरहन्त एवं उनका अनुगमन करने वाले कुन्द—कुन्द आदि महान श्रमण सन्तों की वाणी से उद्भूत यथार्थ निश्चय मोक्षमार्ग एवं नियमेण उसके साधक व्यवहार मोक्षमार्ग रुप सत्य मोक्षमार्ग को कार्य रुप परिणत उपादन कारण को एवं नियमरुपेण उसके सहकारी निमित्त कारण को स्वीकार न कर एकान्त रुप से एक पैर से ही इस संसार महासागर को पार करने वाले दुर्भट एकान्ती हैं।

तथा जो रागादिक रुप स्वयं परिणमन कर रहे हैं फिर भी रागादिक को कर्म जनित भाव बनाकर निमित्त के सम्बन्ध में हेय बुद्धि अपना लेते हैं, एवं वर्तमान अशुद्ध पर्याय की उपेक्षा कर केवल शुद्ध बुद्ध आत्मा में त्रिकाली स्वभाव को ही स्वीकार करते हैं। इनके सम्बन्ध मे आचार्य कुन्द कुन्द देव ने समय सार में लिखा है कि—

कार्यत्वाद कृतं न कर्म, न च तज्जीव प्रकृत्योर्द्वयो,
रज्ञाया: प्रकृते: स्वकार्य फलभुग्भावानु पंगात्कृति:।
नैकस्या: प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता यतो,
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गल: ॥२०३॥

समयसार कलश

इससे स्पष्ट है कि जो रागादिक भावों का निमित्त कर्म ही को मानकर अपने को रागादिक का अकर्ता मानते हैं, वे कर्ता तो आप हैं , परन्तु आप को निरूद्यमी होकर प्रमादी रहना है। इसलिए कर्म ही का दोष ठहराते हैं वही कहा है —

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते
उत्तरन्ति न हि मोह वाहिनीं शुद्ध बोध विधुरान्ध बुद्धयः ॥२२१॥
(समयसार)

"जो जीव रागादिक की उत्पत्ति में परद्रव्य ही अर्थात कर्म का ही निमित्तपना जानते है, वे जीव, शुद्ध ज्ञान से रहित, अन्धबुध्दि है जिनकी — ऐसे होते हुए मोह नदी के पार नहीं उतरते हैं" ।

इससे स्पष्ट है कि हेयोपादेय की बुध्दि से रहित सत्य का यथार्थ स्वरूप स्वीकार न करने वाले समस्त जीव मिथ्यादृष्टि हैं । नित्यप्रति अपनी कषाय की पुष्टता से अनादि कालीन मिथ्यात्व की पुष्टि कर अमूल्य मानव जीवन को व्यर्थ ही समाप्त कर रहे है । यह मिथ्यात्व दो प्रकार का कहा गया है ।

१ — गृहीत मिथ्यात्व ।
२ — अगृहीत मिथ्यात्व ।

प्रश्न ५२– गृहीत मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर — खोटे देव, शास्त्र, गुरू की मान्यता और उनकी जो श्रद्धाभक्ति प्रशंसादि की जाती है वह गृहीत मिथ्यात्व कहलाता है अर्थात् ——अनादि कालीन मिथ्यात्व को परिपुष्ट करने के लिए ज्ञात अज्ञात रूप से प्रत्येक पर्याय विशेष मे जो सच्चे देव, शास्त्र गुरू के स्वरूप के विपरीत, कुगुरू कुदेव एवं कुधर्म को स्वीकार कर लिया जाता है, उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते है ।

इसको स्वीकार करने वाले चर्म चक्षु एवं ज्ञान चक्षु के होते हुए भी इस मिथ्यात्व रूपी अंधकार से व्याप्त कुंये में स्वयं गिरते हैं। पूज्य टोडलमल जी ने लिखा है कि जो सत्य देव, निर्ग्रन्थ लिग एवं कुधर्म की किसी कारण विशेष से भी

यदि सन्मान एवं प्रशंसनादि करते हैं तो स्पष्ट ही वे मिथ्या दृष्टि है।

जैनधर्म में तो पहले बड़े पाप को छुड़ाकर फिर छोटे पाप को छुड़ाने की परम्परा है अत जिन्होंने पहले पुरुषार्थ पूर्वक इस गृहीत मिथ्यात्व का ही मन वचन काय से त्याग नहीं किया; वे उस अगृहीत मिथ्यात्व को कैसे समाप्त कर सकते हैं। कषाय के वशीभूत एकान्तरूप से जानबूझ कर पदार्थ का स्वरूप विवेचन करना भी इसी गृहीत मिथ्यात्व के अन्तर्गत आवेगा अवश्य ही क्योंकि वह उस सत्य परम्परा से पुरुषार्थ पूर्वक हटकर एकान्त धर्म का पोषण है। गृहीत मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं (१) एकान्त (२) वैनयिक (३) विपरीत (४) संशय (५) अज्ञान।

प्रश्न ५२ अगृहीत मिथ्यात्व किसे कहते हैं?

उत्तर— अनादि काल से अपने सत्य स्वरूप को न जानने वाले इस अज्ञानी जीव के जो सप्त तत्व एवं पुण्य पाप विषयक उल्टी श्रद्धा पड़ी हुई है उसे "अगृहीत मिथ्यात्व" कहते है।

आस्रव तत्व सम्बन्धी भूल सबसे बड़ी भूल है। यह जीव पुण्य को संवर एवं निर्जरा का कारण समझकर उसके ग्रहण में 'निरपेक्ष' उपादेय वृत्ति से हमेशा प्रवृत्त रहा किन्तु यह भूल गया कि अपने शुध्दोपयोग रूप शुध्द स्वरूप की प्राप्ति तो भेद विज्ञान रूपी रत्नत्रय धर्म के आचरण से ही होगी। यद्यपि पुण्य का विवेचन आचार्यों ने नय विवक्षा से किया है। अशुभोपयोग की दृष्टि से शुभोपयोग रूप पुण्य कार्य उपादेय रूप ही है किन्तु वही पुण्य शुध्दोपयोग की दृष्टि से हेय है। किन्तु इस जीव ने उसे कथचित् रूप में स्वीकार न कर पूर्ण रूप से उसे ही मोक्षमार्ग का साक्षात कारण स्वीकार कर लिया। यद्यपि पुण्य परम्परा से अवश्य ही मोक्ष का कारण है एवं हमारा अधिकाँश समय अशुभोपयोग में बीतने के कारण उपादेय है किन्तु मोक्ष-मार्ग का साक्षात कारण तो शुध्दोपयोग ही है किन्तु इस भ्रम में जिन्हे शुद्धोपयोग की प्राप्ति तो हुई नहीं है और न ही उसकी

प्राप्ति के लिए दिगम्बर मुद्रा के धारण रुप उनकी कोई प्रवृति ही दिखाई देती है। उनके द्वारा शुभोपयोग रुप पुण्य एवं उसके निमित्त कारण सम्यग्दृष्टि श्रावक के षड् आवश्यक कर्मों को ग्यारह प्रतिमा रुप व्रत धारण को एवं मुनि के समिति, गुप्ति महाव्रत आदि को सर्वथा हेय एवं संसार का कारण ही समझना आगम विरुद्ध है।

उनको टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक मे स्पष्ट शब्दों में निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि लिखा है।

वास्तव मे पुण्य शुध्दोपयोग की दृष्टि से हेय है। परन्तु वही पुण्य अशुभोपयोग की दृष्टि से उपादेय है। परम्परा से मोक्ष का कारण है। कुन्दकुन्दाचार्य ने भी प्रवचन सार में लिखा है "पुण्यफला अरहंता" अतः इस सत्य को स्वीकार न करने वाले अनादिकालीन मिथ्यात्व को अगृहीत मिथ्यात्व कहते है।

प्रश्न -- ५९ कषाय किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ?/-

उत्तर—आत्म स्वरुप की घातक वीतराग धर्म रुप चरित्र ग्रहण मे बाधक एवं संसार दुखों को सतत बढ़ाने वाली आत्मा की विकारी परिणति को कषाय कहते है।

"पुद्गल और कषाय" ये दो शब्द जैन दर्शन की निजी सम्पत्ति है ये जैन दर्शन के सिवाय किसी अन्य दर्शन में नहीं पाये जाते।

कषाय शब्द की व्युत्पत्ति हिंसार्थक कष् धातु से हुई है इसके अनुसार — "सम्यक्त्वादि विशुध्दात्म परिणामान् कषति-हिनस्ति इति कषायः"

जो शुध्दात्मा के सम्यक्त्वादि विशुध्द परिणामो को नष्ट कर दे अर्थात स्वभाव में न रहने दे उसे कषाय कहते हैं।

गोम्मट्टसार, जीवकांड में नेमिचन्द्राचार्य ने लिखा है कि कषाय शब्द की व्युत्पत्ति कष् धातु से होती है। एवं कष्

धातु के दो अर्थ हैं कषण एवं हिंसा। उन्होंने लिखा है कि—

"जो जीव के सुख दुख आदि अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी संसार रुप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरुपी क्षेत्र का कर्षण करती है अर्थात जोतकर उसे उपजाऊ बनाती है उसे कषाय कहते हैं।"

कषाय के मूल रुप मे चार भेद किये गये हैं—क्रोध मान, माया, लोभ एवं भावों की तीव्रता एवं उनके कार्यों की अपेक्षा इनके सोलह भेद हो जाते हैं।

क्रोध—आत्मा के शुध्द स्वभाव उत्तम क्षमा धर्म रुप शान्त स्वभाव को जो घाते, उसे क्रोध कषाय कहते है।

मान—आत्मा के मृदु भाव को जो घाते उसे मान कषाय कहते हैं। यथार्थ मे क्रोध कषाय से ही मान कषाय की उत्पत्ति होती है।

माया—आत्मा के विकार रुप परिणति की जनक माया कषाय है यह आत्मा के सरल ऋजु भाव का घात करती है।

लोभ—आत्मा के परम शुचिता रुप शौच धर्म के प्रगट होने मे जो बाधक हो उसे लोभ कषाय कहते हैं। यह कषाय अत्यन्त विकट है। क्योकि लोभ के वशीभूत महान—महान व्यक्ति भी चरित्रादि से स्खलित हो जाते हैं। यथार्थ मे माया कषाय ही लोभ कषाय की जनक है।

मूल मे कषाय के ये ४ भेद हैं किन्तु इनके सोलह भेद हो जाते है।

१—अनन्तानुबंधी—अनंत अर्थात मिथ्यात्व के साथ जिसका अनुबंध हो उसे अनन्तानुबंधी कषाय कहते हैं

यह मूल मे चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृत्ति है एव आत्मा के चारित्र गुण को प्रगट नहीं होने देती किन्तु दर्शन मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति के साथ जो सम्यग्दर्शन की नियम रुप

से घातक है नियम रुप से उपस्थित होने के कारण इसे भी उपचार से सम्यग्दर्शन का घातक कहा जाता है अर्थात इसके रहते हुए सम्यग्दर्शन नहीं होता है

आगम में चतुर्थ गुणस्थान वर्ती श्रावक को अविरत सम्यग्दृष्टि कहा गया है। यहां पर अविरत शब्द का अर्थ इतना ही है कि देश चारित्र एवं सकल चारित्ररुप चारित्र का ग्रहण उसके नियम रुप से नहीं होता। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह पूर्ण रुप से अव्रती होता है कारण स्पष्ट है कि जब मिथ्यात्व प्रकृति का क्षय उपशम या क्षयोपशम होता है तो नियम से उसके साथ रहने वाली अनंतानुबंधी कषाय का भी क्षय उपशम या क्षयोपशम होता है और इसके परिणाम स्वरुप सम्यग्दृष्टि में जो सभ्यता प्रगट होती है, अन्याय; अभक्ष्य एवं सात व्यसनों का त्याग होता है; सच्चे देव शास्त्र गुरु के प्रति शुभोपयोग रुप भक्ति होती है एवं श्रावक के अष्ट मूलगुण एवं षड् आवश्यक कार्यों के प्रति जो आदर भाव उत्पन्न होता है, क्या उसे आप चारित्र में सम्मिलित नहीं करेंगे? अवश्य ही करेंगे। अतः इस भ्रम से कि अनन्तानुबंधी कषाय चारित्र की घातक है आंशिक चारित्र रुप सत्यता का जो लोप किया जाता है वह आगम सम्मत नहीं है। मूलतः अनन्तानुबंधी कषाय सम्यग्दर्शन की घातक नहीं है क्योंकि सातवे गुणस्थान में उपशम श्रेणी चढकर पतित होने वाला श्रमण द्वितीय सासादन नामक गुणस्थान में न तो सम्यग्दृष्टि ही होता है और न ही मिथ्यादृष्टि होता है किन्तु फिर भी चारित्र का धारक श्रमण होता है, यद्यपि उसके अनंतानुबंधी क्रोध; मान माया, लोभ इनमें से किसी एक या अधिक का उदय यथासंभव होता है और इनका उदय होने पर भी चारित्र का धारक श्रमण वेष रहता है। अतः अनंतानुबंधी कषाय(चारित्र मोहनीय की प्रकृति)उपचार से सम्यग्दर्शन की घातक है एवं नियम रुपेण सम्यक देशचारित्र एवं सकल चारित्र की ही घातक है किन्तु शुभोपयोग रुप श्रावक सम्मत् पदानुसार बाह्य आचरण इसके उदय में सम्यग्दृष्टि के भी होता ही होता है। यदि ऐसा आचरण नहीं करता है तो वह एकान्ती अनंत संसारी ही है।

२— अप्रत्याख्यानावरण – जिस कषाय के उदय में नियम रुप से श्रावक चारित्र एवं ग्यारह प्रतिमादि धारण रुप चारित्र को ग्रहण न किया जा सके, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

अर्थात जिसके उदय मे पंचम गुणस्थान के अनुरुप विशुद्ध परिणाम न हो सके, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

३ — प्रत्याख्यानावरण कषाय – जिस कषाय के उदय से मुनिव्रत रुप सकल चारित्र का ग्रहण न किया जा सके, उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

४ — संज्वलन कषाय – जिस कषाय के उदय से सम्यग-चारित्र में कदाचित् दोप लगते रहें; उसे सज्वलन कषाय कहते हैं।

उपर्युक्त कषायों के उदय मे यद्यपि नियम रुपेण चारित्र ग्रहण नहीं कर पाते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव के चारित्रवान श्रावक एवं श्रमणो के प्रति अत्यन्त आदर भाव रहता है एवं चारित्र रुपी धर्म को ग्रहण करने के लिए उनका जी मचलना रहता है। यही स्वामी अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा कि —

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्य शक्ति

सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान एवं वैराग्य की शक्ति प्रवृत्त होती ही है।

अत. जिनके अदर न तो चारित्र के प्रति विनय है एवं जो दूसरों के चारित्र मे केवल छोटे छोटे दोप देखने के लिए सदा अनिद्र ही रहते हैं, उनके लिए आचार्य समंतभद्राचार्य ने स्वपक्ष के सिद्धि मे असमर्थ स्वीकार करते हुए दया के पात्र कहा है।

ये परस्खलितोन्निद्राः स्वदोषेभानि मीलिन

नपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मतश्रिय.

प्रश्न—५५ व्यसन किसे कहते हैं और उनके कितने भेद हैं

उत्तर– खोटी आदतों को व्यसन कहते हैं।

आचार्य सोमदेव सूरि ने अपने नीति शतक में व्यसन का लक्षण देते हुए लिखा है कि " व्यस्यति पुरुषं श्रेयसः इति व्यसनम् ॥" अर्थात व्यक्ति को कल्याण मार्ग से विचलित अथवा भ्रष्ट करने वाले कार्यों का नाम व्यसन है वास्तव में विषयेच्छा एवं आदतो के वशीभूत होकर मनुष्य जिन अकरणीय कार्यों को आदरपूर्वक करता है उसे व्यसन कहते है।

आचार्यों ने मोक्ष प्राप्ति के हेतु सम्यग्दर्शन का २५ दोष रहित एवं ८ अंग सहित सम्यक परिपालन के साथ साथ सप्त व्यसन त्याग पर अत्यन्त जोर दिया गया है। इनका त्याग न केवल श्रावकों के लिए आवश्यक है वल्कि जो अव्रती एवं धर्म आचरण से विमुख हैं उनके लिए भी इनका सर्वथा त्याग अनिवार्य बताया है। इनके त्याग के बिना, ससार - शरीर एवं भोगों से विरक्ति हो नहीं सकती। व्यसनी पुरुष एक साथ अनेक प्रकार के दुर्गुणों एवं व्यसनो से अक्रान्त होकर अपने मार्ग से विचलित हो जाता है।

व्यसनो को किसी संख्या में सीमित नहीं किया जा सकता किन्तु शास्त्रों में प्रमुख रुप से सप्त व्यसनों का उल्लेख पाया जाता है। अन्य व्यसन भी किसी न किसी रुप में इन्ही में सम्मिलित हो जाते हैं। एक एक व्यसन मानव जीवन मे सुख शांति सम्मान एवं आरोग्य का घातक तथा धर्म जाति एवं संस्कृति पर कलंक होता है और यदि एक से अधिक या समस्त व्यसन एक साथ पाये जावें तो परिणाम क्या होगा यह अनिर्वचनीय ही है। ये व्यसन स्वयं पल्लवित होते रहते हैं। इन्हें विकसित होने के लिए किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। उपाध्याय मुनि श्री विद्यानंद जी ने इन्हें अनचाही फसल कहा है।

क्षत्रचूडामणि में भी कहा गया है कि

व्यसनाऽसक्तचित्तानां गुणः को वा न नश्यति।

न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक्

धर्म, विद्वता, मानवता, कुलीनता और सत्य आदि गुण शेष नहीं रहता।

ये सप्त व्यसन निम्न लिखित हैं।

जुआ खेलना, मांस खाना, मद्यपान करना, वेश्यागमन करना शिकार खेलना, चोरी करना एवं परस्त्री सेवन करना।

१— जुआ खेलना—जुआ खेलने से बुद्धि समाप्त हो जाती है। मानव ज्ञान एवं चारित्र से पतित होकर परिवार एवं समाज की दृष्टि से गिर जाता है। असीम सम्पत्ति का स्वामी होकर भी वह दर दर का भिखारी बन जाता है। उदाहरण हमारे सामने स्पष्ट है, धर्मराज युधिष्ठिर केवल एक द्यूत व्यसन से ही द्रोपदी को हारकर भाईयों सहित वनवासी हुए। महाराजा नल अपना सम्पूर्ण राज्य हारकर अयोध्या नरेश ऋतुपर्ण के यहाँ अश्वपालक बने।

२— मास खाना— मांसाहार तामसिक प्रवृत्ति का प्रतीक मनुष्य की बुद्धि को दूषित करने वाला एवं अनेक रोगों की उत्पत्ति का हेतु है। आज का विज्ञान स्पष्ट रुप से सिद्ध कर रहा है कि मांसाहार मानव का प्राकृतिक भोजन नही है। उसके दांतो एवं आंतों की वनावट मांसाहारी प्राणियों से बिल्कुल भिन्न है। यह मांस निरपराध स्वभाव से भयभीत, निराश्रय प्राणियों के वध से प्राप्त होता है "जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन" इस उक्ति के अनुसार पश्चिमी देशों में सदा अशांति के वादल मँडराते रहते हैं, एवं मानव मानव के वीच भ्रातृ भाव समाप्त होकर विश्वशांति को सदैव खतरा बना रहता है। योगसार में स्पष्ट शब्दों मे लिखा है—

मांसास्वादनलुब्धस्य देहिनो हिन्तं प्रति ।
हन्तु प्रवर्त्तते बुद्धिः शकुन्ता इव दुर्धिय ॥

अर्थात जिसको मांस खाने का चसका पड़ जाता है; उस प्राणी की बुद्धि दुष्ट प्राणियो के समान दूसरे प्राणिओ को मारने मे लगती है।

३— मद्यपान— मद्य अर्थात शराब सडे पदार्थों में विकसित होने वाले अनन्तसूक्ष्म जीवों के गलित शरीर का सत्व, जिसको प्रत्यक्ष देखने मात्र से व्यक्ति का रोम रोम कांपने लगे, उसमें अनेक प्रकार की सुगन्ध एवम् रँग मिलाकर सुगन्धित पेय के रूप में प्रस्तुत

की जाती है। जिसको पीने से सत्य- असत्य, मां -बहिन शत्रु-मित्र का भेद समाप्त होकर अन्याय की ओर प्रवृत्ति हो जाती है। मदिरा के नशे में डूबे शराबी के मुँह में कुत्ता भी पेशाब कर जाये फिर भी विवेक बुद्धि जागृत न हो, ऐसे महा पतन की ओर ले जाने वाला यह व्यसन है। परिवार के परिवार इस मदिरा के पेय में झोंक दिये गये हैं। इतिहास इसका साक्षी है कि मुगल साम्राज्य एवं नवाबों का सारा प्रभुत्व मदिरा के नशे में दीवाने बने, सुरा सुन्दरी के लोलुपी नवाबो एवं सम्राटों द्वारा समाप्त कर दिया गया। आज की भी अधिकाश मानसिक एवं शारीरिक बीमारियो का एक मात्र कारण, मदिरा के नशे से उत्पन्न होने वाला मानसिक तनाव है। इससे स्पष्ट होता है कि मद्यपान का त्याग किये विना हमारे जीवन मे, विचारो में सत्य प्रगट हो ही नहीं सकता।

४ — वेश्या गमन करना — विषयी लम्पट पुरुषो के द्वारा सेवित धोबी की शिला (पत्थर) के समान; सर्व स्त्री (वेश्या, नगर वधु) के सेवन से उत्पन्न होने वाले भय; चिन्ता; व्याकुलता के वशीभूत हुआ मानव दरिद्रता एवं कुत्सित रोगों का आगार बन जाता है।

वेश्यागामी पुरुष कामान्ध होकर, नीचों की दासता को स्वीकार करता है, मान्य कुलीन एवं शूर होते हुए भी अनेक अपमानो को सहन करता है। वह एक के बाद एक दुर्गुणो का शिकार होता हुआ समाज एवं जाति से बहिष्कृत होकर दुखी जीवन जीने को विवश हो जाता है।

वेश्यागमन से चारूदत्त श्रेष्ठी की जो गति हुई, उससे सभी परिचित है। आज बड़े शहरो मे जो चकले चल रहे हैं एवं उनके परिणाम स्वरुप जो विक्षिप्तता एवं मानसिक रोग उत्पन्न हो रहे है; उनके मरीजों से आज के चिकित्सालय भरे पडे है।

५ — शिकार खेलना — अपने कौतुहल एवं मनोविनोद की पूर्ति के लिए स्वभाव से भयभीत ; निरपराध ; आश्रयहीन , रोंगटे खडे करके भागते एवं दाँतों में तृण दबाने वाले · तृण भक्षण करने वाले ; वन्य पशुओं को , निर्दयी शिकारी क्रूरता से प्राणों का अपहरण कर मार डालते हैं । स्वयं एक सुई की चुभन से विचलित हो जाने वाला शिकारी . इन निरपराध वन्य जन्तुओं को मारता हुआ हृदय में जरा भी दया भाव नहीं लाता । जिसको तुम स्वयं जीवन नहीं दे सकते उसके जीवन को लेने का तुम्हें कतई अधिकार नहीं है । शिकार करने के लिए गये हुए भगवान श्रीराम की पत्नि को रावण उठाकर ले गया यदि वे मृग के शिकार के लिए मृग के पीछे न गये होते तो संभवतः आज रामकथा का इतिहास ही दूसरा होता ।

६ — चोरी करना — कृपण मानव के ग्यारहवें प्राण - अर्थ का अपहरण करना न केवल उसके जीवन के प्रति बल्कि उसके परिवार पत्नी एवं नन्हें नन्हे बालकों के प्रति उनके भविष्य के प्रति खिलवाड करना है । जिन्होंने सतत् परिश्रम से अपना पेट काटकर अर्थ का संचय किया है , उनके अर्थ को स्वयं हडप लेना कोई भी बुद्धिमान मानव स्वीकार नहीं करेगा । चोरी करने वाला मनुष्य भयभीत होकर सदा शंकित बना रहता है और यदि उसका अपराध प्रगट हो जाये तो अनेक प्रकार की सजाओं को प्राप्त कर समाज एवं पारिवारिक जीवन में घृणा का पात्र बनता है । उसकी बुद्धि , ज्ञान एवं ताकत समाप्त हो जाती है रावण जैसा महान शक्तिशाली एव तत्वज्ञान का उद्‌भट विद्वान भी केवल सीता हरण करने के कारण ही लोक में अपशय को प्राप्त हुआ एवं स्वर्ण की लंका की बर्बादी का कारण बना ।

७-- परस्त्री गमन — काम की अत्यन्त तीव्र दाह में जलते हुए कामान्ध व्यक्ति विवेक हीन होकर परस्त्री सेवन की इच्छा से उनका समर्ग करते हैं , एवं चारों ओर से शंकित होकर , खडहर आदि एकान्त स्थल में उनके साथ विकृत चेष्टाएं करते हैं, वह जरा सा शब्द सुनने पर थर थर कॉपता हुआ इधर उधर

देखता है; छिपता गिरता हुआ यहां वहां दौड़ता है। समाज के सामने भेद प्रगट हो जाने पर दूसरों के द्वारा पीटा जाता है एवं कानून के द्वारा भी अनेक प्रकार से दण्डित होता है। समाज मे वह मुंह दिखाने से भी शरमाता है। सदा अपने स्वाभिमान को खोकर अनेक प्रकार से परस्त्री की खुशामद एवं चाटुकारी करने पर भी अपने लक्ष्य की पूर्ति न होने पर अत्यन्त दुखी होता है।

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यसन मूल में आत्मघातन तो होता ही है किन्तु एक ही साथ अन्य व्यसनों को भी अपने में किसी न किसी रूप में सम्मिलित किये रहता हैं, जिससे एक भी व्यसन के सेवन से अन्य व्यसनो का सेवन स्वतः होता रहता है।

इन सात व्यसनों के अलावा आज एक आठवा व्यसन भी खूब प्रचलित हो रहा है, वह है बढ़ती हुई अर्थ लोलुपता आज पैसा इन्सान का भगवान बन गया है। धार्मिक सम्पत्ति को सम्पत्ति के स्तर से गिरा दिया है और यही कारण है कि मानव भौतिक वैभव की अतृप्त लालसा लेकर अपने चरित्र से स्खलित होकर भी अर्थ संचय की ओर प्रवृत हो रहा है किन्तु विपुल सम्पति शुद्ध श्रम से उत्पन्न नहीं हो सकती, जैसा कि कहा भी है कि "शुध्दैर्धनर्नवर्धनक अपनार्माय सम "

अतः वासना पूर्ति की इच्छा को सीमित किये बिना आज कि इस विषम परिस्थति से उभरने का कोई रास्ता नहीं है। जीवन की सभ्यता को स्वीकार करने पर एवं उसे प्रकृति के अनुसार ढालने पर ही व्यसनों से बचा जा सकता है एवं उच्च चारित्रिक मूल्य पुन स्थापित किये जा सकते है।

प्रश्न ५६— पाप किसे कहते हैं और उनके कितने भेद हैं?

उत्तर — जो मानव को आत्मोन्नति के मार्ग से विचलित कर पतन की ओर ले जावे उसे पाप कहते हैं।

आचार्यों ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि जो मानव को सच्चे सुख की ओर ले जावे वह धर्म है। अत पाप वह है जो व्यक्ति को स्वार्थी बनाकर पतन एवं दुख की ओर ले जावे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो कार्य निज हित में ठीक

नहीं है वह भी पाप ही है भले ही वह हमारे भौतिक विकास में सहायक हो क्योकि आत्म विकास दूसरों के हितों की कीमत पर नहीं किया जा सकता ।

जब परिभाषा पर विचार करते है तो पापो की संख्या एवं स्वभाव की ओर हमारा ध्यान जाता है । पाप कितने हैं ? जितने गलत विचार एवं गलत कार्य हैं. फिर भी उनके स्पष्ट उल्लेख के लिए आचार्यों ने उन्हें पॉच रूपो में वर्णित किया है, वे हैं—

हिसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, कुशील सेवन करना (व्यभिचार), परिग्रह संग्रह करना और इन्हीं की निवृत्ति रूप श्रावक और श्रमणो के पांच व्रत स्वीकार किये गये है । ये हैं अहिसा सत्य, अब्रह्म; अपरिग्रह या परिग्रह परिमाण, इन व्रतो का श्रावक एक देश एवं श्रमण पूर्ण रूप से अर्थात् सकल देश पालन करते हैं।

१- हिसा करना— अहिंसा की निवृत्ति को हिंसा कहते हैं। जहॉ पर विचारों मे, वचनो मे एवम् आचरणो मे अहिसा प्रतिफलित नहीं होती, वहाँ हिंसा का सद्भाव बना रहता है । हिंसा का विवेचन करते हुए आचार्यों ने लिखा है कि रागादि भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है । चाहे बाह्य रूप में उनका दर्शन हो या न हो । पाप के पॉचो भेद ही इस हिंसा मे समाहित हो जाते हैं लिखा है कि—

> आत्म परिणामहिंसन हेतुत्वात्सर्वमेवहिंसैतत् ।
> अनृत वचनादि केवल मुदाहृतं शिष्य बोधाय ।।४२।। पु० सि०

आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणामो के घात होने के हेतु से असत्य वचनादि सर्व पाप हिसा रूपी हैं । असत्य वचनादि पापों का भेद कथन तो केवल शिष्यों को समझाने के लिए किया गया है ।

हिंसा का विस्तृत विवेचन करते हुए कहा गया है कि प्रमादयुक्त प्रवृत्ति ही हिसा है, चाहे उससे जीव का घात हो अथवा न हो, क्योंकि हिसा का मूल सम्बन्ध आत्म परिणामों से है ।

डाक्टर, ड्राईवर, डाकू इन तीनों के ही द्वारा व्यक्ति के जीवन का घात हो सकता है, किन्तु तब डाक्टर को कानून के द्वारा दन्ड से मुक्त कर दिया जाता है, जबकि ड्राईवर को किंचित असावधानी के कारण आंशिक दन्ड दिया जाता है; जबकि डाकू को मौत की सजा दी जाती है। इससे स्पष्ट है कि हिंसा अहिंसा मूल्यांकन भावों के आधार पर किया जाता है न कि केवल क्रिया के आधार पर ।

२- असत्य बोलना जिस बात को जैसा सुना है; जैसा देखा है, उसे उस रूप में अभिव्यक्त कर देना सत्य बोलना है । सत्य वचन बोलने में मन का शुभ प्रयोजन मूल हेतु है। जिन वचनों में शुभ प्रयोजन छिपा हुआ है दूसरे के विकास एवं कल्याण की भावना सन्निहित है; ऐसे सभी वचनो को आचार्य ने सत्य वचन कहा है। सत्य की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि सत्यम् शिवं सुन्दरं ! सत्य ही ईश्वर है । अहिंसा धर्म भी परम सत्य की साधना का एक साधन है। सत्य साध्य है, अहिंसा साधन। इस परम सत्य की प्राप्ति हमे अपने बच्चों मे मृदुता एवं परिणामों में ऋजुता लाये बिना सम्भव नहीं है । यही कारण है कि इस व्रत को श्रावक के पंच अणुव्रतों मे एवं श्रमणों के पंच महाव्रतों में भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है ।

३- परिग्रह संचय- परिग्रह का शाब्दिक अर्थ होता है 'परि' अर्थात परित. = सब ओर से, 'ग्रह' अर्थात् ग्रहण। इस प्रकार से परिग्रह शब्द का शाब्दिक अर्थ हुआ मन, वचन, काय के द्वारा सब ओर से विषय लिप्सा की पूर्ति हेतु सामग्री एकत्रित करना यही कारण है कि आज के विश्व मे विपुल उत्पादन वृद्धि के पश्चात भी सदैव अभाव की स्थिति बनी रहती है। एक ओर ऐश्वर्य की असीम सामग्री एकत्रित हो जाती है, दूसरी ओर श्रमिक 'साधनों' का जनक भूखा प्यासा एवं बेकारी का शिकार होता चला जाता है । इससे स्पष्ट है कि परिग्रह संचय न केवल धार्मिक दृष्टि से बल्कि सामाजिक दृष्टि से भी पाप है, जो आज के युग में एक अभिशाप बनता जा रहा है। इस आर्थिक एवं मानसिक असंतुलन को समाप्त किये बिना हम धर्म के क्षेत्र में आगे बढ़ नही सकते।

इसलिये जैन धर्म का आधारभूत सिद्धान्त है "अपरिग्रही बनो"। (शेष कुशील सेवन करना एवं चोरी करना इन दो पापो का वर्णन सात व्यसन के अन्तर्गत हो चुका है। अतः उन्हें वहां से समझ लें।)

प्रश्न ५७—मोक्षार्थी को सर्व प्रथम क्या करना चाहिए ?

उत्तर — संसार के यथार्थ स्वरूप के परिचय से, जिसमें वैराग्य की तीव्र भावना बलवती हो रही है, ऐसे मोक्षार्थी पुरुष को सर्व प्रथम अपनी इच्छाओं को सीमित कर परपदार्थ में अहभाव एव ममत्व बुद्धि के त्याग रुप मोक्षमार्ग में प्रवृति हेतु, भेद विज्ञान सम्यकचारित्र की उपासना में प्रवृत्त होना चाहिए क्योंकि सत्य श्रद्धान एवं सत्य ज्ञान से युक्त चारित्र ही साक्षात मोक्ष प्राप्ति का कारण है।

प्रश्न- ५८ मोक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर — रागद्वेप, मोह अथवा सर्व कर्मों से हमेशा को विमुक्त हो जाना मोक्ष कहलाता है। अनादि काल से इस आत्मा के साथ नो कर्म रुप शरीर अष्ट द्रव्यकर्म एवं इनके निमित्त से उत्पन्न होने वाले भाव कर्म रुप रागद्वेपादि विकारी भावों का सयोग चल रहा है। इस संयोग को संवर एवं निर्जरा के द्वरा समाप्त कर केवल शुद्ध आत्म तत्व की प्राप्ति हो जाना मोक्ष है।

मोक्ष ही प्रत्येक मानव का परम साध्य है। उसके समस्त कार्य इसी की प्राप्ति के लिये होते हैं।

प्रश्न ५९- मोक्ष की प्राप्ति किनके माध्यम से होती है ?

उत्तर – आचार्यों ने इस मोक्ष की प्राप्ति के उपायों को बतलाते हुए लिखा है कि सम्यग्दर्शन; सम्यग्ज्ञान; एवं सम्यक्चारित्र रुपी रत्नत्रय की एकता ही मोक्ष का मार्ग है। जब तक इस रत्नत्रय रुप धर्म की परिपूर्णता एक साथ नहीं हो जाती, तब तक मोक्ष की प्राप्ति सभव नहीं हो पाती। समंतभद्राचार्य ने लिखा है कि रत्नत्रय रुप मोक्षमार्ग आत्मा का स्वभाव होने से धर्म कहा जाता है, और इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र

अधर्म कहे जाते हैं। धर्म से मोक्ष; अधर्म से संसार की प्राप्ति होती है; इसलि मोक्ष चाहने वाले सत्यनिष्ठ मानवों के लिए सम्यग्दर्शनादि रुपरत्नत्रय धर्म का आश्रय लेना ही परम इष्ट है

प्रश्न ६० सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के कितने भेद हैं।

उत्तर— यह रत्नत्रय रुप धर्म; निश्चय रत्नत्रय, व्यवहार रत्नत्रय, के भेद रुप से दो प्रकार से वर्णित किया गया है। निश्चय रत्नत्रय साध्य है व्यवहार रत्नत्रय उसका साधक है। एकान्त रुप से स्वीकृत किया गया कोई भी रत्नत्रय धर्म मानव को इस सँसार से पार कराने मे समर्थ नही है। अत: श्रद्धा एवं विवेक से हमें साध्य रुप निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए अवश्य ही उसके साधन रुप व्यवहार रत्नत्रय के साधन को स्वीकार करना चाहिए क्योंकि वह प्रयत्न साध्य है; अर्थात प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किया जाता है। जबकि निश्चय रत्नत्रय धर्म उस साधन का फल है।

प्रश्न ६१ निश्चय सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं।

उत्तर — निश्चय सम्यग्दर्शन— परपदार्थों, द्रव्यकर्म; रागद्वेष आदि रुप आत्मा की अशुद्ध परिणति से रहित शुद्ध आत्म तत्व का श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है।

करणानुयोग की दृष्टि से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति दर्शन मोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियों — मिथ्यात्व, सम्यऽमिथ्यात्व; सम्यक्त्व तथा चारित्र मोहनीय की प्रकृति अनंतानुबंधी क्रोध, मान माया एवं लोभ इन ४ के उपशम क्षय या क्षयोपशम से होती है।

यह करणानुयोग की दृष्टि से सम्यग्दर्शन का यथार्थ स्वरुप हैं; किन्तु द्रव्यानुयोग की दृष्टि से "तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" सप्त तत्वों का यथार्थ स्वरुप सहित श्रद्धान करना वह सम्यग्दर्शन है अथवा पर पदार्थ से भिन्न निज आत्मा की प्रतीत को या स्व-पर भेद विज्ञान को सम्यग्दर्शन कहा गया है। मूलत: ये दोनों परिभाषाएं भी 'तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दशनम्' इसमें समाहित हो जाती है क्योंकि तत्वो का यथार्थ श्रद्धान होने पर स्व-पर का

भेद विज्ञान एवं निज आत्म तत्व की प्रतीति तो नियम रुप से होगी ही होगी।

प्रश्न ६२ व्यवहार सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं।

उत्तर- व्यवहार सम्यग्दर्शन— सात तत्वों एवं सच्चे देव शास्त्र गुरु के यथार्थ श्रध्दान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं।

प्रथमानुयोग एवं चरणानुयोग की दृष्टि से सच्चे देव शास्त्र गुरु का तीन मूढ़ताओं और आठ मदों से रहित एवं आठ अंगों से सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जो वीतराग, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी है वह सत्य देव कहलाता है। जैन दर्शन मे अरहन्त एवं सिद्ध परमेष्ठी को ही सत्य देव स्वीकार किया गया है तथा वीतराग सर्वज्ञ देव की वाणी से मुखरित गणधरादिक एवं आचार्यों द्वारा रचित आगम सत्य शास्त्र कहलाता है। विषयो की आशा से रहित निष्परिग्रही, ज्ञान ध्यान मे लीन आगमानुकूल आचरण करने वाले निर्ग्रन्थ साधू को सत्य गुरु स्वीकार किया गया है। मोक्ष प्राप्ति के हेतु सत्यदेव, सत्य शास्त्र, सत्य गुरु की दृढ़ प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा गया है। इसे ही व्यवहार सम्यग्दर्शन भी कहा गया है, क्योकि वह करुणानुयोग सम्मत् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे निमित्त है। इन सभी परिभाषाओं पर विचार करने से स्पष्ट हों जाता है कि करुणानुयोग सम्मत् सम्यग्दर्शन साध्य है, किन्तु बुद्धि-गम्य न होने से वह प्रयत्न साध्य नहीं है। अत. अन्य सभी परिभाषाएँ उसकी प्राप्ति मे साधन भूत हैं एव वे ही प्रयत्न साध्य हैं।

इस प्रथमानुयोग चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग सम्मत् सम्यग्दर्शन को ही व्यहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। क्योंकि वह करणानुयोग, सम्मत् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का निमित्त कारण है। छहढाला मे दौलतराम जी ने निमित कारण को ही व्यवहार कहा है।

और वास्तव मे देखा जाय तो सम्यग्दर्शन तो अखण्ड आत्म तत्व के श्रद्धा गुण की निर्मल पर्याय है, जो कि श्रुतज्ञान रूप समस्त नयवाद से परे है।

सम्यग्दर्शन रुपी सत्य प्रकाश से आलोकित आत्मा की बाह्य प्रवृति को दर्शाने हेतु आचार्यों ने चार गुणों को बतलाया है, जो सम्यग्दृष्टि जीव में पाये जाते हैं। प्रशनम. संवेग, अनुकम्पा एवं आस्तिक्य।

प्रथम— यह गुण आत्मा के कषाय एवं विकारो के उपशम अर्थात शांत होने पर उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से सम्यग्दृष्टि जीव पंचेन्द्रियों के विषयो से एवं क्रोधादिक कषाय रुप भावों से रहित होकर अत्यन्त शांत हो जाता है।

२ सवेग— संसार से भयभीत होना संवेग गुण है। सम्यग्दृष्टि जीव संसार शरीर भोगो से ममत्व भाव को समाप्त कर; धर्म में और धर्म के फल में अर्थात (चरित्र के) परम उत्साह से सहित होता है एवं समान धर्म वालों में अर्थात साधर्मियों में अत्यन्त अनुराग रखता हैं।

३ अनुकम्पा—संसार के समस्त प्राणियों या जीव मात्र पर दया भाव रखना अनुकम्पा कहलाती है। सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा के समान ही, समस्त जीवो मे मध्यस्थ भावों से समता का व्यवहार करता है, सभी से शत्रुता रुपी भावो का परिहार करता है।

४ आस्तिक्य— स्वत्र सिद्ध जीवादि तत्वों के सद्भाव को संशय से रहित होंकर स्वीकार करना एवं धर्म, धर्म के हेतु एवं धर्म के फल में तथा आत्मा के अस्तित्व में अकाट्य विश्वास रखना आस्तिक्य नाम का गुण है। यह गुण सम्यग्दृष्टि जीव में भी नियम रूप से पाया जावेगा' अन्य गुण तो मिथ्यादृष्टि में भी पाये जा सकते है।

इस परम बिशुद्धि रुप सम्यग्दृष्टि के आठ अंग कहे गये हैं। आठ अंगो से परिपूर्ण होने पर ही वह निर्मलता

नीरज अर्थात (न,रज= विकार रहित) कहा जा सकता हैं अस्तु अष्ट अंग निम्नलिखित हैं—

१ निः शकितत्व— वीतराग सर्वज्ञ सत्य देव द्वारा कहे गये विश्व एवं तत्वों के यथार्थ स्वरूप में अकाट्य अटल विश्वास होना निशंकित्व नाम का गुण है ; तथा लोकभय, परलोक, मरण; वेदना, अरक्षा, अगुप्ति, आकस्मिक भय, इन सप्त प्रकार के भयों से अविचलित रहकर सम्यग्दृष्टि अपनी निष्कम्प श्रद्धा से तनिक भी विचलित न होकर , सत्य मार्ग पर अविराम बढता चला जाता है ।

२ निः कांक्षित— सम्यग्दर्शन रुप पारस मणि को प्राप्त कर चुका है; ऐसा सम्यग्दृष्टि मानव, इस विश्व की क्षणभंगुर सम्पत्ति एवं विषय भोगों की तनिक भी इच्छा अपने मन में नहीं लाता, वह तो उस परम धाम मोक्ष की प्राप्ति के लिए निष्काम रुप से अपनी सत्य साधना करता चलता है।

३ निर्विचिकित्सा अग— सत्य ज्ञान भगवान का जिन्होने साक्षात्कार कर लिया है ऐसा महान मानव, मानव तन की आकृति एवं विकार में ही न अटककर मानव मन मे छिपे हुए परम सत्य के दर्शन को सदा उत्कंठित रहा करता है। उत्कृष्ठ सत्य की साधना मे सहायक इस शरीर से ग्लानि न कर आबाल—गोपाल रोगी निरोगी मानव के प्रति अत्यन्त सहानुभूति रखता है ।

४ उपगूहन अग— सत्य के पथिक किसी मानव द्वारा कदाचित ज्ञान अज्ञान या प्रमाद के वशीभूत हुए अपराध या दोष को समाज में प्रचारित न कर; धर्म एवं चारित्र धर्म को लोक उपहास से बचाना एवं एकान्त में उसके दोष को दूर करने के लिए शान्ति पूर्ण प्रयत्न करता, उपगूहन नाम का अंग है।

सम्यग्दृष्टि मानव सदैव आत्म प्रशंसा से दूर रहकर अपने दोषों को सुधार की दृष्टि से प्रगट करता है एवं दूसरों के गुणों को स्वय अपनी समाज के विकास की दृष्टि मे उन्हें प्रगट करता है ।

५ अमूढदृष्टि अग- अपनी विवेक बुद्धि एवं ज्ञान चक्षु से जगत मे हेय-उपादेय, सत्य—असत्य; हित—अहित, एवं एकान्त-अनेकान्त का स्पष्ट निर्णय करना एवं मूर्खता पूर्ण अन्धश्रद्धा के त्याग रुप असत्य — देव, शास्त्र; गुरु, एवं मिथ्यामार्ग से सदैव दूर रहकर सत्य परीक्षा प्रधान दृष्टि को अंगीकार करना, अमूढ़दृष्टि का अंग है ।

६ स्थितिकरण— सत्य श्रद्धान एवं सत्य मार्ग से किसी कारण वशायत् विचलित हुए । सत्य पथिक को उद्बोधित कर पुनः सत्य मार्ग में प्रतिष्ठित करना एवं पूर्ण निष्ठा से उसकी हर शंका का समाधान करना एवं उसे हर संभव सहायता करना स्थितिकरण नाम का अंग है ।

७ वात्सल्य— निः स्वार्थ निश्छल भाव से अपने परिवार समाज एवं प्राणिमात्र के प्रति निष्कपट; निस्वार्थ, सच्चा प्रेम एवं भ्रातृभाव रखना वात्सल्य नाम का गुण है।

गाय का अपने बछड़ों के प्रति जिस प्रकार का निस्वार्थ निष्कपट प्रेम होता है ऐसे प्रेम को अपने चारों ओर बिखेर देना एवं साधर्मी जन का यथायोग्य आदर सत्कार करना; सामाजिक विकास मे हर संभव सहायता देना एवं प्राणी मात्र के प्रति मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ भाव रखना, सम्यग्दृष्टि के वात्सल्य गुण की अनिवार्य शर्ते है ।

८ प्रभावना— प्रत्येक मानव का कल्याण एवं विकास ही इस भावना से सत्य मार्ग के सम्यक रुपेण प्रचार हेतु सत्साहित्य का प्रकाशन एवं धार्मिक उत्सवों को सार्वजनिक रुप से करना; एवं सभा संस्थाओं एवं पत्र सम्पादन आदि के माध्यम से ज्ञान, संयम परोपकार रुप धर्म प्रचार करना प्रभावना अंग है । सच्चो प्रभावना तो अपनी आत्मा को विशुद्ध करने में सतत् लगे रहना है ।

सम्यग्दृष्टि मानव इन ८ अंगो से युक्त होकर, पच्चीस दोषों से भी रहित होता है। वे पच्चीस दोष, आठ शंका आदि आठ दोष; आठ मद, ६ अनायतन एवं तीन मूढ़ताओं के भेद रुप होते हैं।

आठ दोष—

१ — शंका (सन्देह)— सत्य देव शास्त्र गुरु एवं विश्व के तत्वों के यथार्थ स्वरुप में सन्देह करना एवं सात प्रकार के भयों से आकुलित होना।

२ — कांक्षा— धर्म साधना को शरीर एवं भोग संबंधी सामग्री की प्राप्ति का हेतु मानना।

३ — चिकित्सा— सत्य ज्ञान से विभूषित गुणवान मनुष्यों के प्रति घृणा भाव रखना।

४ — अमूढ़दृष्टि— सत्य—असत्य की परीक्षा न कर दूसरों के कहे अनुसार वस्तु तत्व को स्वीकार कर लेना।

५ — अनूपगूहन— अभिमान के वशीभूत होकर अपनी प्रशंसा एवं दूसरे के गुणों की निन्दा करना एवं अपने दोषों को छिपाकर दूसरे के दोषों को प्रगट करना।

६ — अस्थितिकरण— धर्म मार्ग से विचलित हुए सत्य पथिक को उसी में पुन: स्थापित न कर कषाय वश पतित मार्ग की ओर उसे प्रवृत करने में सहयोग देना एवं सम्यमार्ग से भ्रष्ट जनो का सरक्षण करना।

७ — अवात्सल्य— साधर्मी भाइयों एवं गुणीजनों से प्रेम न कर उनकी उपेक्षा एवं बुराई करना।

८ — अप्रभावना— सकुचित दृष्टि कोण रखते हुए सम्मधर्म की ओर दूसरों की प्रवृति में बाधक होना एवं अपने आचरण से धर्म को उपहासप्रद बनाना।

आठ मद—

१ — ज्ञानमद— ज्ञानावरण कर्म विशेष क्षयोपशम होने पर अपने ज्ञान का एवं साहित्य लेखन, वक्तृत्व आदि प्रतिभा विशेष का गर्व करना एवं अन्य का उपहास वृत्ति से उपेक्षा करना।

२ — कीर्तिमद— समाज एवं शासन में विशेष प्रतिष्ठा होने पर या लौकिक ख्याति प्राप्त होने पर उसका अभिमान करना।

३ — कुलमद— पितृ परम्परा के उज्जवल एवं सामर्थ होने पर उसका अभिमान करना।

४ — जति मद— मातृ वंश के उज्जवल एवं समर्थ होने पर अभिमान करना।

५ — शक्तिमद— शारीरिक बल एवं अपने अधीन रहने वाली शक्ति पर अभिमान करना।

६ — रुप मद— अपने शरीर की सुन्दरता पर घमण्ड करना।

७ — धन मद या ऋद्धि मद— सम्पत्ति अधिक होने पर उसका अभिमान करना एवं दरिद्रों की उपेक्षा करना अथवा ऋद्धि विशेष होने पर उसका गर्व करना।

८— तप मद— विशेप तपश्चर्या एवं सदाचार के परिपालन में समर्थ होने पर उसका गर्व करना एवं दूसरो को हीन समझना।

छौ अनायतन

१ असत्य देव भक्ति—वीतरागता; सर्वज्ञता एवं हितोपदेशता के गुण से रहित क्रोध, मोह माया आदि से सहित देव को मानना एवं उनकी भक्ति करना।

२ — असत्य गुरु भक्ति — विषय लोलुपी, विकार ग्रस्त; भ्रष्ट गुरुओं की भक्ति करना।

३ — असत्य धर्म भक्ति — हिंसा, मदिरापान आदि पाप कार्यों से युक्त धर्मों को स्वीकार करना एवं उसमें भक्ति रखना।

४— मिथ्या देव भक्त — मिथ्या देवो की भक्ति करने वालो की संगति करना एवं उनके गलत कार्यों मे सहयोग देना।

५— मिथ्या गुरु भक्त — मिथ्या गुरु के सेवक व्यक्तियो की संगति करना उनके कार्यों में हाथ बँटना या सहायता देना।

६ – मिथ्या धर्म उपासक – मिथ्याधर्म के साधक जन का संसर्ग करना एवं उसके प्रचार प्रसार में सहयोग देना।

तीन मूढ़तायें —

१— देव मूढ़ता — अन्ध श्रद्धालु बनकर अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिये कल्पित देवी देवताओं को ईश्वर समझकर उन्हें बलिदान देना उनसे वरदान माँगना एव उन्हें जगत का कर्ता धर्ता एव हर्ता स्वीकार करना।

२ — लोक मूढ़ता — अंध श्रद्धा से हित अहित का विवेक किये विना अनेक निरर्थक क्रियाओ में प्रवृत्त होना जिनसे न तो आत्मा की शुद्धि होती है न समाज एवं देश का ही विकास होता है। जैसे संसार मुक्ति के लिए नदी स्नान करना, अग्नि मे कूद कर प्राण देना, पर्वत पर चढ़ना एवं गिरना। विभिन्न प्रकार के संक्रामक प्लेग, चेचक आदि रोगों को वर्षा या अकाल आदि को देवो का प्रकोप मानना। धन को लक्ष्मी समझकर पूजन करना आदि।

३– गुरु मूढ़ता– कषाय के वशीभूत विभिन्न प्रकार के भेष धारण कर अपनी प्रशंसा एवं पूजा भक्ति विषय लोलुपी, मदिरा सेवी; अपने को गुरु कहलाने के इच्छुक दुश्चरित्र साधुओ को गुरु मान कर पूजना एवं उनकी संगति करना गुरुमूढ़ता है।

इस प्रकार सत्य सम्यग्दर्शन को धारण करने का इच्छुक प्रत्येक भव्य मानव अवश्य ही इन २५ दोषों का परिहार एवं अष्ट अगों मन वचन काय से अल्हादित होकर अवधारण करने की ओर प्रवृत्त होगा। अस्तु एक अक्षर या मात्रा रहित, अथवा दोष सहित सच्चा मन्त्र भी जब अपने अभीष्ट फल की सिद्धि में असमर्थ रहता है उसी प्रकार एक गुण रहित अर्थात एक ही दोष सहित सम्यग्दर्शन भी जीवन की शुद्धि एवं संसार परम्परा का उन्मूलक नहीं हो सकता।

प्रश्न ६३– निश्चय एवं व्यवहार सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं ।

उत्तर– निश्चय एवं व्यवहार सम्यग्ज्ञान— अपने स्वरूप के यथार्थ ज्ञान को निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं तथा सप्त तत्वों एवं सच्चे देव शास्त्र गुरू के यथार्थ ज्ञान को व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहते है।

मूलतः विचार किया जाये तो सम्यग्ज्ञान, श्रुतज्ञान का विषय है जबकि सम्यग्दर्शन, श्रुतज्ञान से परे श्रद्धा का विषय है, किन्तु इस सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के साथ ही सम्पूर्ण ज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम प्राप्त कर लेते हैं तब साध्य एवं साधन की अपेक्षा उसके दो भेद हो जाते है निश्चय सम्यग्ज्ञान एवं व्यवहार सम्यग्ज्ञान ।

मोक्षमार्ग में प्रयोजन भूत सात तत्वो का संशय विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं । इस सम्यग्ज्ञान को प्राप्ति सम्यग्दर्शन के साथ नियम रूप से हो जाती है ।

समस्त पर पदार्थों एवं रागद्वेषादि विकारी भावों से रहित आत्मा के यथार्थ शुद्ध स्वरूप के ज्ञान को निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं। एवं सात तत्वों एवं सच्चे देव शास्त्र गुरू के यथार्थ ज्ञान को व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहते है ।

निश्चय सम्यग्ज्ञान साध्य रूप हैं एवं व्यवहार सम्यग्ज्ञान उसका साधन है, क्योंकि सात तत्वों के यथार्थ श्रद्धान के बिना अपने शुद्ध स्वभाव का ज्ञान नहीं हो सकता एवं उसके यथार्थ ज्ञान के बिना हमें सात तत्वो का यथार्थ परिज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि सम्यग्ज्ञान का मूलतः इतना ही कार्य है कि मिली हुई संयुक्त पर्याय में से शुद्ध आत्म तत्व एवं उसकी विकारी पर्यायो को अलग—अलग बिल्कुल स्पष्ट कर देना। जिससे अपने शुद्ध स्वरूप की प्रतीति एवं ज्ञान कर उसकी प्राप्ति के लिये हम सम्यक् पुरुषार्थ कर सकें । अतः निश्चय एवं व्यवहार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, जिस समय एक प्रधान होगा

उसी समय दूसरा अभाव रुप न होकर, केवल गौण रुप हो जावेगा। चूंकि नय एवं प्रमाण श्रुतज्ञान के विषय हैं। निश्चय एवं व्यवहार ये दोनों परस्पर सापेक्ष नय के कथन हैं। अतः जिस सम्यग्ज्ञान के उपस्थिति से श्रुतज्ञान भी सत्य रूप होता है तो दोनो नय भी पूर्ण सत्य रूप होगे क्योंकि वे श्रुतज्ञान के ही भेद हैं।

प्र० ६४— निश्चय एव व्यवहार सम्यकचारित्र किसे कहते हैं।

उत्तर— निश्चय एवं व्यवहार सम्यकूचारित्र— अपनी आत्मा में रमे रहने को अर्थात ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहने को "निश्चय सम्यकूचारित्र कहते हैं जो चरित्रनिश्चय सम्यक्चरित्र का पूरक हो, उसे व्यवहार सम्यकूचारित्र कहते हैं।

सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान साक्षात मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु सम्यकूचारित्र, दर्शन एवंज्ञान के साथ एकाकार होकर नियम रूप से मोक्ष प्राप्ति का ही कारण है। सम्यकचारित्र के बिना इस जीव को मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। यह जीव सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर यही इसी ससार मे ६६ सागर के लम्बे काल तक भ्रमण करता रहता है परन्तु सम्यकचारित्र प्राप्त कर वही जीव अन्तर्मुहूर्त मे भी ससार बंधन को छेद कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

सम्यक्चरित्र का वर्णन करते हुए आचार्यो ने लिखा है कि मोह अर्थात मिथ्यात्व एवॅ क्षोभ अर्थात रागद्वेष से रहित की जो निर्मल परिणति है वही सम्यक्चरित्र है। इस प्रकार की दशा प्राप्त हो जाने पर आत्म स्वभाव मे जो तल्लीनता या स्थिरता होती है उसे निश्चय सम्यक्चारित्र कहते हैं। यह निश्चय सम्यक्चारित्र साध्य रूप है एवॅ इस निश्चय सम्यक्चरित्र की प्राप्ति में जो नियम रूप से, न केवल सहायक हो बल्कि उसका पूरक हो उसे व्यवहार सम्यक्चारित्र कहते हैं। जो व्यवहारचारित्र निश्चयचारित्र की प्राप्ति मे हेतु नहीं होता है उसे तो केवल व्यवहाराभास कहा गया है एवं जो निश्चयचारित्र व्यवहारचारित्र का साध्य नहीं है उसे भी आचार्यो ने केवल निश्चयाभास कहा

है । आगम में तो सम्यग्दृष्टि के ही व्यवहार सम्यकचारित्र स्वीकार किया गया है मिथ्यादृष्टि के तो इसकी प्राप्ति बनती ही नहीं है ।

चूंकि निश्चय सम्यक् चारित्र साध्य है एवं व्यवहार सम्यक् चारित्र उसका साधना है अतः निश्चय सम्यकचारित्र साध्य का लक्ष्य रखते हुए व्यवहार सम्यकचरित्र में प्रवृति ही सम्यग्दृष्टि का मूल पुरुषार्थ है ।

यह व्यवहार सम्यक् चरित्र एक देश एवँ सकल देश के भेद से दो प्रकार का होता है । एक देश चारित्र को श्रावक धर्म कहते हैं एवं सकल देश चारित्र को महाव्रत एवं मुनि धर्म कहा जाता है प्रथम का पालन श्रावक एवं द्वितीय का पालन श्रमण संत करते है । आचार्यो ने श्रावक के अणुव्रतो को भी न केवल पुण्यार्जन के हेतु ही बल्कि महाव्रतों के साधन के रूप में ही स्वीकार किया है ।

मुनियो के महाव्रतों का पूर्ण वर्णन उनके मूलगुण वर्णन के समय किया जा चुका है । यहाँ पर श्रावक के लिए अवश्य पालनीय देश चारित्र का वर्णन किया जाता है श्रावक के इस देशचारित्र का पालन करुणानुयोग की दृष्टि में चारित्र मोहनीय कर्म की एक प्रवृति अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान माया एवं लोभ के क्षय उपशम या क्षयोपशम होने पर ही होता है । इसके पालन के पूर्व सात प्रकृतियों के क्षय उपशय या क्षयोपशम के द्वारा वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर चुका होता है। चरणानुयोग की दृष्टि से देश चरित्र के बारह भेद होते हैं । पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत - जिनका पालन श्रावक करता है । श्रावक शब्द का अर्थ होता है; श्रद्धावान, विवेकवान, एवं क्रियावान मनुष्य । जिसमें इन गुणों का समावेश हो उसे श्रावक कहते है वही इन बारह व्रत, रुप; चारित्र का सम्यक पालन कर सकता है । (इन बारह व्रतों का विवेचन तृतीय खंड मे किया जावेगा ।)

प्र० ६५- उपादान किसे कहते हैं-

उत्तर— जो स्वयं कार्य रूप परणित हो उसे उपादान कहते हैं कार्य उत्पन्न होने के एक समय पूर्ववर्ती पर्याय को उपादान कहते हैं, अथवा कार्य रूप परिणमने की अन्तरंग शक्ति को उपादान कहते है ।

उपादान शब्द उस पदार्थ या शक्ति का बोधक है जो सहायक कारण (निमित्त) मिलने पर अपनी योग्यता से कार्य में बदल जाता है। जैसे— रोटी का उपादान कारण कच्ची रोटी की वह अवस्था है जिसे अग्नि में सेंका जाता है । यही कार्य उत्पन्न होने की एक समय पूर्ववर्ती रोटी की पर्याय, रोटी की उत्पत्ति का साक्षात या मूल हेतु है । यहा पर यह ध्यान रखना भी जरूरी है कि यद्यपि रोटी का उपादान कारण आटा है, किन्तु रोटी रूप कार्य की उत्पत्ति भी नियमरुप से तब तक नहीं हो सकती जब उसके उत्पन्न होने में सहायक कारण (पानी, वेलना, तवा एवं अग्नि रसोईया आदि) उपस्थित न हो और ये साधन पुरुषार्थ पूर्वक मिलाये जाते है । आटा रखा है. उपादान (रोटी रूप बदलने की योग्यता उसमें है । किन्तु सहायक कारणों को जब तक प्रयत्न पूर्वक नहीं मिलाया जाता, तब तक वह रोटी रूप में नहीं बदल सकेगा । "अर्थात निमित्त के विना उपादान कार्य रूप में परिणित नहीं हो सकता" ।

इसी प्रकार यद्यपि भव्य आत्मा में मोक्ष प्राप्त करने की उपादान रुप योग्यता सदाकाल विद्यमान है परन्तु जब तक पुरुपार्थ पूर्वक अणुव्रत एवं महाव्रत रुप चारित्र का सम्यक परिपालन नहीं किया जावेगा; तब तक केवल उपादान की योग्यता से ही त्रिकाल मे भी मोक्षप्राप्ति संभव नहीं है । अतः स्पष्ट है कि उपादान स्वयं ही कार्य रुप परिणमनता है, किन्तु विना निमित्त के वह भी कार्य रुप परिणमने में असमर्थ होता है । अत प्रयत्नपूर्वक उपादान का यथार्थ स्वरुप समझकर निमित्त की उपयोगिता को भी निष्पक्ष रुप मे स्वीकार करना चाहिए । तभी जैन धर्म के आधारभूत सिद्धान्त अनेकान्तात्मक स्याद्वाद, का यथार्थ अवधारण संभव है

प्रश्न ६६ निमित्त किसे कहते हैं?

उत्तर— जो कार्य रुप परिणत उपादान में सहायक हो अथवा जिसके विना कार्य की उत्पत्ति न हो सके उसे निमित्त कहते है।

अवा कार्य की उत्पत्ति में जो सहायक हो उसे निमित्त कहते है। यहाँ सहायक का तात्पर्य यह है कि जिसकी अनुपस्थिति में कार्य ही न हो सके उसे निमित्त कहते है। यद्यपि निमित्त स्वयं कार्य रुप परिणत नहीं होता किन्तु उसकी अनुपस्थिति में कार्य की उत्पत्ति यद्यपि वीज से होती है किन्तु उसके निकालने में वायु पानी एवं मिट्टी भी निमित्त है। इन के अभाव में अंकुर की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

निमित्त भी दो प्रकार के होते हैं। एकतो वे जो पुरुषार्थ पूर्वक मिलाये जाते है एवं दूसरे वे जो स्वयं मिल जाते हैं। यहाँ ऐसा एकान्त नहीं है कि उपादान की योग्यता होने पर निमित्त मिलेगा ही मिलेगा अथवा निमित्त आकिंचित्कार होता है पंडित टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि पुत्र का आर्थी शादी तो पुरुषार्थ पूर्वक करे ही करे (न कि उपादान पर छोड़ दे) क्यों कि पत्नी विना पुत्र तो हो ही नहीं सकता; फिर पत्नी के होते हुए पुत्र की उत्पत्ति होना या न होना उसके भवितव्यं के अधीन है इससे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है की मूल निमित्त (अनिवार्य निमित्त) तो पुरुषार्थ पूर्वक मिलाया जाता है तथा अन्य अनिवार्य आवश्यक निमित्त जिनको बुद्धिपूर्वक मिलाया नहीं जा सकता, वे भवितव्यता पर छोड़ दिये जाते है। क्या कारण था कि यद्यपि भगवान महावीर को केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर दिव्यध्वनि खिरने रूप उपादान योग्यता प्रगट हो चुकी थी फिर भी छयासठ दिनों पर्यन्त दिव्यध्वनि नहीं खिरी। यह निमित्त की ही ताकत थी, क्योकि योग्य गणधर उपस्थित नहीं था एवं सौधर्मइन्द्र के मन मे भी पेंसठ दिनों तक यह विचार क्यों नहीं उत्पन्न हुआ कि दिव्यध्वनि न खिरने का कारण इन्द्रभूति नामक गणधर का उपस्थित न होना था। वीरसेनाचार्य ने जय धवलामे

केवलज्ञान उत्पत्ति के बाद छयासठ दिन तक देशना प्रगट न होने का कारण स्पष्ट शब्द में लिखा है कि सौधर्म इन्द्र की काललब्धि के अभाव में तत्काल योग्य गणधर की तलाश नहीं कर सका। इससे स्पष्ट है कि निमित्त अकिंचित्कर नहीं है न ही ऐसा है कि उपादान की योग्यता होने पर निमित्त अपने आप मिल जायेगा बल्कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि निमित्त को पुरुषार्थ भी मिलाना पड़ता है।

अतः कार्य की उत्पत्ति में सहायक कारण को जो निमित्त मात्र कहा जाता है। वहा 'मात्र, शब्द का तात्पर्य इतना ही है कि निमित्त स्वयं कार्य रूप नहीं परिणमता। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि निमित्त अकिंचित्कर होता है क्योंकि निमित्त कहा ही उसे जाता है, जिसके अभाव में उपादान कारण योग्यता होने पर भी कार्य रूप मे नहीं बदल [परिणमन] सकता। अतः निमित्त के यथार्थ स्वरूप को समझकर हमे सत्य का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए।

प्र०— ६७ मोक्षमार्ग का यथार्थ ज्ञान किसके माध्यम से होता है

उत्तर— मोक्षमार्ग का यथार्थ ज्ञान नय एवं प्रमाण के द्वारा होता है।

प्रश्न ६८- प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर — सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं अथवा जो द्रव्य की समस्त अवस्थाओं को अस्ति नास्ति पक्ष को एक साथ जाने उसे प्रमाण कहते हैं। इस मूर्तमान विश्व का प्रत्येक पदार्थ रहस्यमय है। एक ही पदार्थ में अनेक विरोधी गुण एक साथ एक ही समय में उपस्थित हैं। प्रत्येक वस्तु अनेकान्तमय है। अपनी सत्ता को शाश्वत कायम रखते हुए सतत गति से प्रवाहमान है। प्रत्येक वस्तु अपनी सत्तारूप केवल कूटस्थ न है पर के क्षणिक अर्थ या व्यंजन पर्याय से सदा काल परिवर्तित होते हुए अर्थ क्रिया कारित्व गुण से परिपूर्ण है।

ऐसी अनेकान्तात्मक वस्तु के अधिगम करते समय उसे

उसके परस्पर विरोधी धर्मों को एक समय में, एक ही साथ कहा नहीं जा सकता उसका यथार्थ ज्ञान तो क्रम क्रम से उसके एक एक धर्म को लेकर उसका निरुपण करते हुए; समस्त धर्मों कों एक साथ मिला देने पर ही किया जा सकता है क्योंकि शब्दों में इतना सामर्थ्य नहीं है कि वे एक साथ किसी निश्चित शब्द के द्वारा किसी एक धर्म के प्रतिपादन के अलावा शेष अन्य धर्मों का अंकन द्योतन भी कर सके।

स्वकीय अज्ञान की निवृति करना जिसका प्रयोजन है वह स्वार्थ ज्ञान कहलाता है, और परकीय अज्ञान की निवृति करना जिसका प्रयोजन है। वह पदार्थ ज्ञान कहा जाता है मति अवधि मनः पर्यय और केवल ये चार ज्ञान स्वार्थ ही है। परंतु श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनो रूप होता है। भावात्मक श्रुत स्वार्थ कहलाता है और वचनात्मक परार्थ कहलाता है। नय; परार्थ श्रुतज्ञान के विकल्प हैं। पदार्थ में नित्य अनित्य. एक अनेक आदि परस्पर विरोधी बहुत धर्म रहते हैं। उन धर्मों में से नय आवश्यकतानुसार किसी एक धर्म को मुख्यता देता हुआ ग्रहण करता है और शेष धर्म को उस समय अनावश्यक समझ गौण कर देता है। सर्वथा छोडता नहीं है।

श्रुत ज्ञान की इस शब्द प्रवृति को नय कहा जाता है जितने शब्द हैं, उतने ही नय होते हैं एवं पदार्थ के सम्पूर्ण रूप में जानने; रूप श्रुत ज्ञानादि की प्रवृति को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण से वस्तु को केवल जाना जा सकता है। एवं नय से पदार्थ में रहन वाले धर्मों का क्रमिक कथन किया जा सकता है जिस समय वक्ता वस्तु गत किसी विशेष धर्म को लेकर उसका कथन करता है, उस समय उसकी दृष्टि में वस्तु के अन्य धर्म में उपस्थित न होकर गौण रुप में होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक नय सापेक्ष रह कर वस्तु के अधिगम का मूल हेतु वनना है; किन्तु जब वही नय निरपेक्ष रहकर वस्तुगत अन्य धर्मों का निषेध करता है तो उसी समय वह एकान्त एवं दुर्नय वन जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रमाण किसी वस्तु का कथन सामान्य रूप मे कर सकता है— जैसे यह आम है, किन्तु नय के द्वारा ही उसकी वस्तुगत बिशेषताओ को वतलाया जा सकता है जैसे आम पीला भी है, मीठा भी है, प्रमाण के द्वारा उसके समस्त धर्मों को केवल जाना जा सकता है। इससे विलकुल स्पष्ट हो जाना है कि नय एवं प्रमाण वस्तु के अधिगम्य के मूल हेतु है।

प्र० ६९— प्रमाण के कितने भेद हैं!

उत्तर— आचार्यों ने प्रमाण का वर्णन करते हुए लिखा है कि सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है एवं पदार्थ का यथार्थ समग्र दर्शन जिससे होता है वह सम्यग्ज्ञान है। स्वस्वरूप की अपेक्षा मे प्रत्येक ज्ञान प्रमाण होता है। किन्तु ज्ञान मे प्रमाणता एवं अप्रमाणता का विभाग बाह्य पदार्थ को सम्यक या मिथ्या रूप में जानने से होता है।

मूल में सम्यग्ज्ञान के पांच भेद किये गये हैं। मतिश्रुत अवधि, मन: पर्यय और केवलज्ञान, इन पांचों ज्ञानों मे से श्रुत ज्ञान के अलावा शेष चार ज्ञान प्रमाण रूप ही हैं अर्थात वस्तु के समग्र धर्मों को एक साथ ग्रहण करते हैं। किन्तु, श्रुतज्ञान नय एवं प्रमाण दोनो रुप होता है। वह वस्तु के एक देश को भी एवं सकल देश को भी ग्रहण करता है। प्रमाण वस्तु को अखंड रूप में ग्रहण करता है। इस प्रमाण ज्ञान के दो भेद हैं, परोक्ष प्रमाण एवं प्रत्यक्ष प्रमाण।

प्र० ७०— परोक्ष प्रमाण किसे कहते हैं!

उत्तर— परोक्ष प्रमाण उसे कहते है जो किसी बाह्य सहायता के पदार्थ को समग्र रुप से ग्रहण करता है। मति एवं श्रुतज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहा गया है क्योंकि इनका विषय इन्द्रियाँ एवं मन की सहायता के बिना संभव नहीं है।

प्र० ७१— प्रत्यक्ष प्रमाण किसे कहते हैं!

उत्तर— प्रत्यक्ष प्रमाण उसे कहते हैं जो बिना किसी बाह्य

सहायता के पदार्थ को ग्रहण करता है। अवधि मनः पर्याय एवँ केवलज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है क्योंकि ये तीनों ज्ञान बिन किसी बाह्य साधन की अपेक्षा किये सीधे आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं। इनमें से भी अवधिज्ञान एवं मनःपर्यय ज्ञान को एक देश प्रत्यक्ष कहते है क्योंकि ये ज्ञान सम्पूर्ण पदार्थों को न जान कर अपनी सीमा के अन्दर के पदार्थों को अर्थात एक देश पदार्थों को जानते हैं। जबकि केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है। क्योंकि वह सम्पूर्ण पदार्थों को युगपत सम्पूर्ण रूप से जानता है।

प्र० ७२— नय किसे कहते हैं!

उत्तर— जो प्रमाण से जाने हुये पदार्थों के एक अंश को जाने, उसे नय कहते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि वक्ता की विवक्षा विशेष को नय कहा जाता है। वह पदार्थ के संपूर्ण स्वरूप का द्योतक न होकर उसके किसी धर्म विशेष का यथार्थ रुप से ज्ञान कराता है। प्रत्येक नय सापेक्ष रहकर ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप की सत्ता को बनाये रखने में समर्थ होते हैं। किन्तु निर्पेक्ष होने पर कथित वस्तु के अस्तित्व के ही घातक हो जाते हैं एवं दुर्नय बन जाते हैं।

प्र० ७३ – नय के कितने भेद हैं।

उत्तर — मूलत; नय के दो प्रकार हैं – एक वे जो पदार्थ के शाश्वत अबाधित, एवं प्रमाण सिद्ध स्वरूप का कथन करते हैं, अर्थात जो वस्तु के त्रिकाली सता स्वरुप को अपना विषय बनाते हैं एवं दूसरे वे जो वस्तु में सदाकाल परिवर्तित होने वाली गुण विशेष अर्थात पर्याय को अपना विषय बनाते हैं प्रथम नय—द्रव्यार्थिक नय, एवं द्वितीय नय पर्यायार्थिक नय कहे जाते हैं। प्रथम नय के ३ भेद एवं द्विनीय नय के ४ भेद किये गये हैं।

द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं— नैगम नय, संग्रह नय

और व्यवहार नय एवं पर्यायार्थिक नय के ४ भेद है— ऋजु सूत्र नय, शब्द नय; समभिरूढ़ नय तथा एवंभूत नय ।

१— नैगम नय— जो नय पदार्थ में उत्पन्न होने वाले अथवा उत्पन्न हो चुकने वाले संकल्प को वर्तमान समय मे ग्रहण करता है उसे नैगम नय कहते हे । यह पदार्थ में भूतकाल में उत्पन्न हुई एवं भविष्यत् काल में उत्पन्न होने वाली पर्यायों की अपेक्षा वर्तमान पदार्थ को उस रूप कहता है, इसकी अपेक्षा इसके तीन भेद हो जाते है—

क— भूत नैगम नय— भूतकाल के संकल्प को वर्तमान में ग्रहण करना । जैसे सिद्ध भगवान द्रव्य प्राणों से जीते हैं । यहा यद्यपि वर्तमान में सिद्ध पर्याय में सिद्ध भगवान अपने ज्ञान दर्शन रूप भाव प्राणों से ही जीते हैं, किन्तु भूत नैगम नय उनके द्रव्य प्राणों से जीने को भी स्वीकार करता है क्योंकि भूतकाल में वे समार मे द्रव्य प्राणो से जीते थे ।

ख— भविष्य नैगमनय या भावी नैगमनय— यह भविष्य काल मे होने वाले कार्य को भी वर्तमान में ग्रहण कर लेता है । जैसे— वच्चा स्कूल मे है यद्यपि वह अभी रास्ते में ही होगा किन्तु स्कूल पहुंचेगा । इसलिये यह भी ठीक है । जैसे भव्य जीव भगवान हैं आदि ।

ग— वर्तमान नैगम नय— जो नैगम नय वर्तमान समय के सकल्प को वर्तमान समय में ग्रहण करता है जैसे— लड़का स्कूल जा रहा है ।

२ संग्रह नय—जो नय विशेष की उपेक्षा कर सामान्य रूप से एकत्रित रुप में पदार्थ का ग्रहण करता है उसे संग्रह नय कहते हैं । जैसे सत् कहने से छहों द्रव्यों को ग्रहण करना । यहाँ एक शब्द द्वारा ही सामान्य की अपेक्षा से ही छह द्रव्यों का ग्रहण हुआ है । विशेष रूप से उनका ग्रहण एक साथ नहीं हो पाता; क्योंकि उनके गुण धर्म अलग अलग है ।

३ व्यवहार नय— संग्रह नय के द्वारा सामान्य रुप से ग्रहण किये गये पदार्थों को जो भेद रुप से ग्रहण करता है उसे व्यवहार नय कहते हैं यह नय तब तक भेद करता जाता है, जहां तक वे किये जा सकते हैं। जैसे सत् कहने पर समस्त द्रव्य संगृहीत (सामान्य) रुप में कहे जा सकते हैं। परन्तु व्यवहार नय उन्हें ६ द्रव्य रुप भेदों में बांटेगा। ६ द्रव्यों में से जीव द्रव्य के चार गतियो की अपेक्षा ४ भेद करेगा। फिर प्रत्येक गति में पाये जाने वाले जीव मे क्षेत्र, काल भाव आदि की अपेक्षा से भेद करेगा। इस तरह वहाँ तक भेद करता जावेगा जहाँ तक संभव है।

पर्यायार्थिक नय के भेद—

१— ऋजु सूत्र नय— जो नय मात्र वर्तमान समय की पर्याय को ग्रहण करता है उसे ऋजुसूत्र नय कहते है इसके दो भेद है
१- स्थूल ऋजु सूत्र नय— जो नय किसी निश्चित काल तक रहने वाली पर्याय को (पर्यात की अपेक्षा से रहने वाली एक रुपता से) वर्तमान समय की स्वीकार करके उसे अपना विषय बनाता है उसे स्थूल ऋजु सूत्र नय कहते हैं। जैसे मनुष्य की पर्याय को अपना विषय बनाया। यद्यपि मानव शरीर में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है किन्तु इस परिवर्तन की उपेक्षा कर एक निश्चित काल तक रहने की अपेक्षा वह स्थूल ऋजुसूत्र नय का विषय है।

२ शब्द नय— जो लिंग, कारक एवं वचन की अपेक्षा शब्दो को अलग अलग मानता है अर्थात उनमें भेद करता है उसे शब्द नय कहते हैं जैसे दार, स्त्री, कलत्र यद्यपि ये तीनों शब्द एकार्थ वाची है किन्तु शब्द नय इन तीनों में लिंग की दृष्टि से भेद स्वीकार करता है इसके अनुसार दार शब्द पुल्लिग का स्त्री शब्द स्त्रीलिंग का एव कलत्र शब्द नपुन्सक लिग का है अत: एकार्थ वाची होते हुए भी भिन्न भिन्न है।

३ समभिरूढ़ नय— जो नय किसी शब्द विशेष के अन्वय या निरुक्ति आदि अर्थ को ग्रहण न कर, रुढ़ अर्थात प्रचलित अर्थ को ही

ग्रहण करता है उसे समभिरुढ़ नय कहते हैं। जैसे पंकज इस का निरुक्ति अर्थ पंक अर्थात कीचड एवं 'ज' अर्थात उत्पन्न होने वाला अर्थात कीचड में उत्पन्न होने वाला है । चूंकि कमल एवं सिघाड़ा दोनो कीचड़ में उपन्न होते हैं अत पंकज शब्द कहने से दोनों का बोध होना चाहिए किन्तु यह पंकज शब्द के रुढ़ अर्थ कमल को ही स्वीकार करता है न कि पूर्णत: उसके निरुक्ति अर्थ को ।
४ एवं भूत नय— जो क्रिया जिस अर्थ में व्यवहृत होती है उसे उस रूप में ही स्वीकार करना उसे एवंभूत नय कहते हैं । जैसे किसी मनुष्य को उस समय पुजारी कहना जब वह पूजा कर रहा हो, जब वह रसोई बनाता है तब उसे पुजारी न कहकर रसोइया ही कहना ।

इस तरह से ये नय विषय की दृष्टि से क्रमश: सूक्ष्म होते जाते हैं इनमें से प्रथम ३ नय अर्थ नय एवं शेष ४ नय शब्द नय भी कहलाते हैं । इसके वर्गीकरण के अनुसार प्रथम ३ नय द्रव्यनय (द्रव्यनय को अपना विषय करने की अपेक्षा) एवं शेष ४ नय पर्याय नय (पर्याय को अपना विषय करने की अपेक्षा] कहलाते हैं।

अभी ऊपर जिन नयों का वर्णन कहा गया है, उनमें सामान्य व विशेष रूप पदार्थ का ग्रहण पूर्ण रूप से हो जाता है किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में मुख्य रूप से दो नयो को स्वीकार किया गया है निश्चय नय व व्यवहार नय ।

प्रश्न ७३ निश्चय नय किसे कहते हैं?

उत्तर— जो नय यथार्थ त्रिकाली स्वभाव या उपादान को मुख्य करे उसे निश्चय नय कहते हैं।

निश्चय नय जीव के त्रिकाली शुद्ध टकोत्कीर्ण स्वभाव को या जीव की उपादान रूप शक्ति विशेष को अपना विषय स्वीकारता है व उसकी वर्तमान विकारी पर्याय को स्वभाव के साथ त्रिकाल व्याप्ति न होने से अस्वीकार करता है। यह निश्चय नय न तो बंध को स्वीकार करता है न ही मोक्ष का ही अस्तित्व स्वीकार करता है। इस नय की अपेक्षा सात तत्वों की व्यवस्था स्वीकार नहीं की

जाती । यह जीव के सत्स्वरूप को ही अपना विषय बनाता है। इसलिए इसे भूतार्थ कहा जाता है। यद्यपि यह नय आत्मा के शुद्ध स्वरूप को ही अपना मुख्य विषय बनाता है किन्तु वह वर्तमान विकारी पर्याय की भी सर्वथा उपेक्षा न कर उसे गौण रुप में स्वीकार करता है व उसको समाप्त कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप के प्राप्ति के लिए हमें प्रयत्न करने की प्रेरणा देता है।

प्रश्न ७४– व्यवहार नय किसे कहते हैं ?

उत्तर— संयोगी पर्याय अथवा निमित्त को जो नय प्रधान कहे, उसे व्यवहार नय कहते हैं। व्यवहार नय कर्म के संबंध से होने वाली वर्तमान अशुद्ध पर्याय का दिग्दर्शन करता है। यह नय जीव की पूर्ण शुद्ध दशा को गौण कर वर्तमान समय में होने वाली विकारी पर्याय को अपना मुख्य विषय बनाता है एवं उस विकारी पर्याय के कारण कार्य को यथावत रुप में स्वीकार करता है। आत्मा पूर्ण शुद्ध है किन्तु वर्तमान समय में उसकी जो राग द्वेषादि रुप विभाव परिणति हो रही है इस का कारण उसके साथ रहने वाला द्रव्य कर्म; जिसके कर्म रुप परिणित हुए पुदगल परमाणु: आत्मा की रागद्वेषादि रुप विभाव परिणति से आत्मा के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही होकर रह रहे है। इस कथन को व्यवहार स्वीकार करता है और पुरुषार्थ द्वारा व्यवहार निश्चय रुप रत्नत्रय की साधना करके अपने शुद्ध स्वरुप की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार व्यवहार नय भी निरपेक्ष न होकर निश्चय को मुख्य न कर गौण रुप में स्वीकार करता है। आधा सा मोक्ष का एवं संसार का समस्त कार्य केवल व्यवहार नय से ही चलता है यदि इसे अस्वीकार कर दिया जाय तो संसार का समस्त व्यवहार समाप्त हो जाने से अजीब स्थिति पैदा हो जावेगी। सप्त तत्व की व्यवस्था समाप्त हो जावेगी। हमारी स्वयं की वर्तमान पर्याय रुप स्थिति समाप्त हो जावेगी क्योंकि आत्मा एवं पुदगल दोनों ही स्वभाव रूपेण पूर्ण शुद्ध है अतः धर्म- कर्म भाव की सम्पूर्ण मान्यता असफल हो जायेगी।

नोट— इन नयों के भेद प्रभेदों का विवेचन द्वितीय खण्ड में किया जायगा।

प्र० ७५— कौन नय सच्चा है कौन झूठा?

उत्तर- दूसरे नय की अपेक्षा रखते हुए सभी नय सत्य हैं किन्तु निरपेक्ष नय मिथ्या है।

निश्चय नय सत्य है या झूठा, अथवा व्यवहार नय सत्य है या झूठा; यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता क्योंकि एक नय के अभाव मे दूसरे नय का अस्तित्व ही नहीं रहता है। हमारा मूल लक्ष्य नयवाद में उलझना नहीं है बल्कि उनके माध्यम से उस वस्तु तत्व को समझना है जो दोनों से परे एक अखण्ड ध्रुव तत्व है। दोनों ही नय उसके अधिगम (ज्ञान) में हेतु हैं। अतः उनमें सत्य होने अथवा झूठ होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता एक नय के सापेक्ष ही दूसरे नय की स्थिति बनती है।

अत इससे स्पष्ट है कि नय साध्य नहीं है, बल्कि पदार्थ के जानने के साधन हैं यह आपकी कला है कि आप उन्हें समझकर बिना किसी उलझन में पडकर अपना काम निकाल लें अत. कौन नय सच्चा है एव कौन नय झूठा? यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्येक नय अपनी अपनी जगह पूर्ण है। निश्चय नय केअभाव में व्यवहारनय अन्धा है एवं व्यवहार नय के अभाव में निश्चय नय पंगु है। हमारा लक्ष्य तो दोनों नयों की सहायता से अपना काम निकालकर अपने शुद्ध आत्म स्वरुप की प्राप्ति करना है न कि नयवाद मे उलझना।

प्रश्न ७६— निश्चय नय उपादेय है या व्यवहार भी!

उत्तर— मोक्षार्थी बन्धुओं! सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि निश्चय एवं व्यवहार दोनों नय साथ रहते हैं, यही कारण है कि उनको नय कहा जाता है। एक के बिना एक मिथ्या नाम पाता है, हां इतना अवश्य है कि श्रद्धा तो दोनों नयों की युगपत होती है परन्तु ज्ञान, आचरण क्रमशः अपने अपने पदानुसार होता

है। पहले गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान तक गति कराने वाला व्यवहार नय है और सप्तम से अंतिम गुणस्थान तक पहुँचने में निश्चय नय साथ देता है अर्थात सप्तम गुणस्थान पर्यन्त व्यवहार नय उपादेय है और सप्तम से अंतिम चौदहवे गुणस्थान तक के महामुनियों के लिए निश्चय नय उपादेय है।

व्यवहार नय भी उपादेय है— इस नाम से एक लेख (जैन दर्शन में) पढा था, वह लेख पडित कैलाशचन्द सिद्धान्त-शास्त्री जी द्वारा लिखित समय प्राभृत को प्रस्तावना से उद्धृत था; पूरा लेख इस प्रकार था–

व्यवहार नय भी उपादेय है–

समय प्राभृत (गाथा १२) में कुन्द कुन्द स्वामी ने कहा है जो परम भावदर्शी है, उनके लिए तो शुद्ध कथन करने वाला शुद्ध नय हो जानने योग्य है किन्तु जो अपरमभाव में स्थित हैं वे व्यवहार नय के द्वारा उपदेश करने के योग्य हैं।

श्री अमृतचन्द जी की टीका के आधार पर पडित जयचन्द जी ने परमभाव दर्शी का अर्थ किया है—जे शुद्धनय ताई पहुँच श्रद्धावान भये तथा पूर्णज्ञान चारित्रवान भये। और जो श्रद्धा तथा ज्ञान के और चारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुँचे हैं साधक अवस्था मे स्थित हैं उन पुरुषों को अपरम भाव में स्थित कहा है।

गाथा १२ के 'अपरमे ट्ठिदा भावे' का अर्थ करते हुए जय सेनाचार्य ने लिखा है—अपरमे अशुद्धे असंयत सम्यग्दृष्ट-यपेक्षया श्रवकापेक्षया वा सराग सम्यग्दृष्टि लक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्तापेक्षया च भेदरत्नत्रय लक्षणे वा ठिदा = स्थिताः।

अर्थात सातवें गुणस्थान तक ये जीव अपेक्षा भेद से अपरम भाव में स्थित हैं और उनके लिये व्यवहार नय से उपदेश करना योग्य है। समयसार की आत्मख्याति वचनिका के प्रारम्भ मे पं० जयचन्द जी ने भी यही बात लिखी है। उन्होंने लिखा है–

बहुरि ऐसा जानना जो स्वरूप की प्राप्ति दोय प्रकार है

प्रथम तो यथार्थ ज्ञान होय करि श्रद्धान रुप सम्यक दर्शन होगा सो यह तो अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान वर्ती के भी होय है। तहा बाह्य व्यवहार तौ अविरत रुप ही रहै। तहाँ बाह्य व्य-वहार का अवलम्बन है ही। अर अन्तरंग सर्वनय का पक्षपात रहित अनेकान्त तत्वार्थ की श्रद्धा होय अर जहां ताँइ साक्षात शुद्धोपयोग की प्राप्ति न होय, श्रेणी न चढै, तहां शुभरुप व्यवहार का ही अवलम्बन है। बहुरि दूजा साक्षात् शुध्दोपयोग रुप वीतराग चारित्र का होना सो अनुभव में शुद्धोपयोग की साक्षात प्राप्ति होय; तामे व्यवहार का भी अवलम्बन नहीं और शुध्द नय का भी अवलम्बन नहीं जातै आप साक्षात शुध्दोपयोग रुप भया तब नय का आलम्ब काहे का ? नय का आलम्बन तो जेतें राग तेतैहि था। ऐसे अपने स्वरूप की प्राप्ति भये पीछैं साक्षात् वीतरागता होय तब चारित्र सम्बन्धी पक्षपात मिटे है। ऐसा नहीं जो साक्षात वीतरागता भया नाहीं अर शुभ व्यवहार कूं छोडि स्वच्छन्द प्रमादी होय प्रवर्तें ही दृढ भया।

उक्त सब व्याख्यानो से यह स्पष्ट है कि शुद्धोपयोग की दिशा मे जो नहीं पहुँचे है, दूसरे शब्दों में जो श्रेणी मे स्थित नहीं हैं ऐसे सातवे गुणस्थान पर्यन्त जीव अपरमभाव में स्थित लिए गये हैं। उनके लिए व्यवहार नय मे उपदेश करना योग्य है किन्तु जो व्यवहार की सीमा का अतिक्रमण करके परमभाव मे स्थित हैं उनके लिए तो एक मात्र शुद्ध नय ही प्रयोजनभूत है।

इस काल मे तो इस क्षेत्र मे सातवें गुणस्थान से ऊपर कोई जीव पहुँच ही नहीं सकता अतः इस भरत क्षेत्र में जितने मनुष्य हैं ये सभी अपरमभाव मे स्थित है अत. कुन्दकुन्द स्वामी के आदेशानुसार वे सब व्यवहार नय के द्वारा ही उपदेश करने के योग्य हैं उसी से उनका कल्याण हो सकता है।

प्र० ७७ – निश्चय नय को आगम में भूतार्थ क्यों कहा है !

उत्तर– यह नय आत्मा के पर निरपेक्ष अर्थात द्रव्य कर्म भाव कर्म नो कर्म से रहित त्रैकालिक शुद्ध स्वरुप को ग्रहण करता है इसलिए भूतार्थ कहलाता है ।

निश्चय नय को आगम में भूतार्थ कहा गया है । भूतार्थ का अर्थ होता है कि यथावत जैसे का तैसा । चूंकि निश्चय नय पदार्थ का जैसा त्रिकाली अखंड शुद्ध स्वभाव है उसको उस रुप ही निरुपित करता है; उसकी वर्तमान पर्याय को गौण कर देता है परन्तु निमित्त कारण उसकी दृष्टि में गौण रहता है न कि उसका अभाव ही हो जाता है । निश्चय नय जहाँ आत्मा को त्रिकाली शुद्ध ज्ञाता दृष्टा मात्र सिद्ध के समान निरुपित करता है वहाँ इसका तात्पर्य इतना ही है कि जीव का यथार्थ स्वरुप तो ऐसा ही है किन्तु उसी समय वह हमें: अपनी वर्तमान अशुद्ध पर्याय की उपेक्षा न कर, उस शुद्ध दशा के प्रगट करने के लिए पुरुषार्थ करने की ओर प्रेरित करता है, किन्तु जो अज्ञान या मान के वशीभूत होकर केवल आत्मा के शुद्ध (कर्म मल रहित) बुद्ध (केवल ज्ञान युक्त) होने के गीत गाकर पुरुषार्थ हीन हो जावेंगे वे तो टोडरमल जी के शब्दो में निश्चयभासी मिथ्या दृष्टि ही कहे जावेगे वे उस वस्तु तत्व को न समझकर केवल स्वप्न में राजा बनने के समान जान बूझकर स्वयं को ही ठगेगे एवं अपनी अनादि संसार संतति अतीत काल तक प्रवाहमान बनाये रखेंगे ।

प्र० ७८ — व्यवहार नय को आगम में अभूतार्थ क्यों कहा है !

उत्तर - यह द्रव्य को संयोगी पर्याय का करता है इसलिये इसे अभूतार्थ कहा है ।

व्यवहार नय को आगम में अभूतार्थ कहा गया है क्योकि यह द्रव्य दृष्टि से द्रव्य की वर्तमान अशुद्ध पर्याय का कथन करता है चूंकि वर्तमान विकारी पर्याय को समझे विना शुद्ध पर्याय की

ओर दृष्टि जाती नहीं, उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न होना नहीं है अभूतार्थ शब्द का यह अर्थ नहीं है कि वह सत्य नहीं है या असत्य है बल्कि उसका तात्पर्य इतना ही है कि वह द्रव्य की अनन्तकाल तक रहने वाली शुद्ध पर्याय को वर्तमान समय मे स्वीकार नहीं करता । संस्कृत भाषा में 'अ' अक्षर का अर्थ ईशन अर्थात किञ्चित भी होता है यही अर्थ यहाँ अपेक्षित है, अर्थात व्यवहार नय शाश्वत सत्य न होकर वर्तमान की दृष्टि से पूर्ण रुप से सत्य है यही अभूतार्थ शब्द का अर्थ है ।

प्र० ७६— निश्चय नय को समझना क्यों आवश्यक है;

उत्तर— इसके माध्यम से त्रिकाली शुद्ध द्रव्य की प्रतीति एवं उपादान की ओर दृष्टि जाती है; इसलिये निश्चय नय को समझना जरुरी है ।

मंजिल को पहचाने बिना राह पर चल पड़ना एवं बीच की भूल भुलैयो मे भटकते रहना मूर्खता है इसलिये सत्यान्वेषी साधक को मंजिल के यथार्थ स्वरूप एवं उसके माग को पहले समझ कर फिर अपने कदम मंजिल की ओर ले जानेवाले रास्ते पर बढ़ाना चाहिए । निश्चय नय ही हमें अपनी मजिल की पहिचान एवं उसकी आदर्श (Ideal) स्थिति की ओर इंगित करता है। किसी कवि ने कहा है—

चलता चल तू चलता चल
कहीं न रुकना चलता चल ।
किन्तु ठहरना उस मंजिल पर
जिसके आगे राह न हो ॥

निश्चय नय मंजिल की चरम स्थिति; सुख का सम्पूर्ण खजाना एवं आत्मा की मोह क्षोभ जनित राग द्वेष आदि विकारी भावों से रहित शुद्ध यथार्थ दशा एवं उसकी ओर ले जानेवाली राह का यथार्थ दिग्दर्शन कराता है, इसलिये उसको समझना

प्रत्येक कल्याणेच्छुक मानव के लिए अत्यन्त अनिवार्य है। निश्चय नय आत्मा के यथार्थ स्वरुप के प्ररुपण द्वारा हमारे मन में उस शुद्ध दशा को पाने की, एक सोई हुई लालसा को उत्पन्न कर देता है जो सत्य साधक मानव के ठहरे हुए कदमों को बर्बस ही उस राह की ओर मोड़ देती है जो है जो मोक्ष के भव्य प्रासाद की ओर जाती है। अर्थात सत्य दर्शन ज्ञान चारित्र की तन्मयता रुप आत्मा की सतत अनुभूति के द्वार पर जाती है।

प्र० ८०– व्यवहार नय को समझना क्यों आवश्यक है!

उत्तर— व्यवहार नय हमें अपनी वर्तमान अशुद्ध पर्याय के समझने के लिए बाध्रित करता है क्योंकि उसके समझे बिना शुद्ध पर्याय का यथार्थ ज्ञान सम्भव नहीं होता। व्यवहार नय निश्चय नय द्वारा प्ररुपित आत्मा के यथार्थ स्वरुप को प्राप्त करने के मार्ग पर पडने वाले क्रमिक मोड़ो की ओर इंगित करता है क्योंकि यदि यहाँ भटक गये तो मंजिल से चले जावेंगे एक सत्य खोजी मानव के लिए शुद्धोपयोग रुप आत्मधर्म की अपेक्षा शुभ एवं अशुभ रुप दोनों प्रवृति हेय है, किन्तु अशुभ की अपेक्षा शुभ प्रवृति श्रेयस्कर है किन्तु यदि इसी में अटक गये तो भटक जायेंगे और यदि इसको छोड़कर अशुभ प्रवृति में प्रवृत हुए तो उस सत्य के रास्ते की दिशा से ही विमुख हो जावेंगे इसलिए भव्य जीव के लिए आत्मा की यथार्थ अनुभूति रुप निश्चय चारित्र की पूर्णता प्राप्त करने के लिए साधक अवस्था की जिन जिन परीक्षाओं में पास होना पडता है; उनमें पास होने के लिए जो जो कार्य करना अनिवार्य होता है। इसका ज्ञान व्यवहार नय से ही प्राप्त होता है जैसे आत्मा की शुद्ध दशा की प्राप्ति के लिए हमें अपनी विषय कषायों से मुक्त होकर श्रावक के अणु व्रत व श्रमणों के महाव्रतादि रुप चारित्र का पालन करना ही होगा जिसके द्वारा वर्तमान अशुद्ध पर्याय के कारणभूत रागद्वेष आदि विकार व अष्टद्रव्य कर्मो का समूल क्षय हो जाता है; आत्मा अपने शुद्ध ज्ञाता दृष्टा स्वभाव की प्राप्ति कर लेता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक नय एक दूसरे के पूरक हैं, एक के अभाव में दूसरा नय, नय न रह कर दुर्नय बन जाता है एवं एकान्त से यथार्थ वस्तु स्वरुप का लोप करने लगता है। अत सत्य साधक को निश्चय नय के साथ व्यवहार नय का ज्ञान होना अनिवार्य है।

प्रश्न ८१- द्रव्य किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर- द्रव्य वह है, जो गुण और पर्याय रुप हो। यद्यपि जब हम गुण की बात करते हैं तो अविरोध रुप से उसी में भी पर्याय शब्द का भी समावेश हो जाता है क्योंकि द्रव्य का प्रत्येक गुण भी सदाकाल षडगुणी हानिबृद्धि से परिवर्तित होकर हमेशा किसी न किसी पर्याय में ही रहता है, किन्तु यह पर्याय शब्द का जो विशेष प्रयोग किया गया है वह वैशेषिकों की उस मान्यता के खण्डन करने के लिए है। जिसमें गुण एवं द्रव्य को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया गया है। वह वैशेषिकों की उस मान्यता के खण्डन करने के लिए है। जिसमें गुण एवं द्रव्य को स्वतंत्र रुप से स्वीकार किया गया है। द्रव्य का दूसरा लक्षण है — जो उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य रुप हो उसे द्रव्य कहते हैं।

उत्पाद — नवीन पर्याय के जन्म को उत्पाद कहते हैं।

व्यय — पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं।

ध्रौव्य — पूर्व एवं नवीन पर्याय इस प्रकार रुप रहने में जो हेतु या कारण है अथवा जिसके माध्यम से हम द्रव्य की एकता को स्वीकार करते हैं उसे ध्रौव्य कहते हैं।

प्रत्येक द्रव्य मे उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य एक समय में एक साथ ही होता है। जैसे — मिट्टी का घडा जैसे ही फूटा; बदल गया वहाँ पर घड़े रूप मिट्टी की पर्याय का विनाश उसी समय टुकड़े रुप मिट्टी की पर्याय की उत्पत्ति एवं उसी समय मिट्टी रुप ध्रौव्यता ये तीनों एक साथ एक ही समय में हुए।

प्रत्येक द्रव्य सतत परिवर्तन शील है, चाहे वह सूक्ष्म परिवर्तन शील हो या स्थूल परिवर्तन। विना परिवर्तन के द्रव्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है।

द्रव्य ६ हैं— जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म आकाश और काल

प्रश्न ८२- गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर — जो द्रव्य के साथ हमेशा उसकी समस्त हालतों में रहते हों एवं अपने अलावा अन्य गुणों से रहित हों उन्हें गुण कहते है।

यथार्थ में देखा जाय तो प्रत्येक द्रव्य अनंत गुणों का पुञ्ज है, एवं प्रत्येक गुण अपने आप में पूर्ण स्वतंत्र एवं अपने मे अन्य गुणों की सत्ता से रहित है। जैसे — आत्मा में ज्ञान दर्शन सुख आदि अनंत गुण एक साथ पाये जाते हैं, एवं प्रत्येक गुण अपने मे पूर्ण स्वतंत्र स्वयं में अन्य की सत्ता से रहित है अर्थात ज्ञान, दर्शन आदि प्रत्येक गुण पूर्ण स्वतंत्र हैं। ज्ञान गुण में दर्शन गुण का एक भी अंश नहीं पाया जावेगा। यह देखा भी जाता है कि किसी व्यक्ति को ज्ञान अधिक है किन्तु उसको सुख अधिक नही है। उसका कारण यही है प्रत्येक गुण अपनी सत्ता मे स्वयं पूर्ण स्वतन्त्र है एवं उसमें अन्य गुण का अंश भी नहीं पाया। यदि ऐसा होता है तो जिसके पास ज्ञान अधिक है; उसके पास सुख भी अधिक होना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं है।

यद्यपि प्रत्येक गुण पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है, किन्तु ऐसा नहीं है कि द्रव्य के प्रदेशो में भी इन गुणों के अनुसार बटवारा हो। जैसे इतने या ये प्रदेश ज्ञान गुण के, ये दर्शन गुण के। ऐसा नहीं है बल्कि प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त गुणों का समान अधिकार है किसी का कम या ज्यादा नहीं। उदाहरण के लिये शक्कर को लिया जाय तो वह मीठी भी है व सफेद भी है स्पष्ट रूप से उसमें दो गुण प्रगट हैं; अब क्या आप बता सकते हैं शक्कर के दाने के कितने भाग में सफेदी है एवं कितने भाग में मीठापन, इसका उत्तर

यही होगा कि प्रत्येक दाने के कण कण में शक्कर के श्वेत पने एवं मीठे पन का पूर्ण अधिकार है। यही व्यवस्था गुणों के सम्बन्ध मे है।

८३– पर्याय किसे कहते हैं एवं वे कितने प्रकार की होती हैं।

उत्तर— जो प्रति समय जल की लहर के समान उत्पन्न होकर के नष्ट होती रहती है उसे पर्याय कहते हैं अथवा पदार्थ की वर्तमान स्थिति को पर्याय कहते है। अथवा जो प्रत्येक समय मे परिणमन होकर पूर्व स्थिति का विनाश एवं नवीन स्थिति का उत्पाद हो जावे उसे पर्याय कहते हैं।

चूंकि प्रत्येक द्रव्य शाश्वत रहता है किन्तु उसकी अवस्था सदैव प्रत्येक समय बदलती रहती है। जैसे आज हम किशोर हैं, कल युवक होंगे फिर वृद्ध आदि तो यह परिवर्तित अवस्थाये जिनमे पूर्व की अवस्था का विनाश होकर नवीन अवस्था की उत्पत्ति होती है, पर्याय कहलाती है।

प्रत्येक पदार्थ मे यह परिणमन प्रति समय होता रहता है यद्यपि यह इतना सूक्ष्म होता है कि वह हमारी दृष्टि में नही आता है। प्रत्येक पदार्थ में जब परिणमन होता है तो दो प्रकार से होता है या तो पदार्थ के आकार में और दूसरे पदार्थ के गुणों में। उसी के आधार पर। पर्याय दो प्रकार की होती है।

१– अर्थ पर्याय— पदार्थ में रहने वाले प्रदेशवत्व गुण के अलावा अन्य गुणों मे प्रति समय जो सूक्ष्म परिणमन होता है उसे अर्थ पर्याय कहते हैं। यह परिवर्तन अत्यन्त सूक्ष्म होता है एवं हमारी दृष्टि मे नही आता है।

२— व्यन्जन पर्याय—| पदार्थ के आकार मे जो परिणमन होता है उसे व्यन्जन पर्याय कहते हैं। चूंकि किसी भी पदार्थ का आकार, उसमें रहने वाले प्रदेशवत्व गुण के कारण होता है क्योंकि प्रदेशवत्व गुण वह हैं जिसके कारण वस्तु किसी न किसी

आकार मे ही रहे अतः हम कह सकते हैं कि प्रदेशवत्व गुण के कार्य (परिवर्तन) को व्यन्जन पर्याय कहते हैं।

प्रत्येक पर्याय पुन; दो दो प्रकार की होती है :

१— अर्थ पर्याय—

१— स्वभाव अर्थ पर्याय— किसी बाहरी सहायक कारण या निमित्त के बिना जो पर्याय होती है उसे स्वभाव अर्थ पर्याय कहते हैं। जैसे— जीव का केवल ज्ञान। यह केवल ज्ञान स्वभाव से ही होता हैं। चूंकि केवल ज्ञान जीव का गुण हैं। केवलज्ञान उसकी स्वभाव पर्याय है /

२— विभाव अर्थ पर्याय— किसी बाह्य निमित्त कारण की सहायता से जो अर्थ पर्याय होती हैं उसे विभाव अर्थ पर्याय कहते हैं। जैसे— जीव में मतिज्ञान आदि ज्ञान या राग द्वेष आदि भाव जो कर्मो के निमित्त से होते हैं।

२— व्यन्जन पर्याय भी दो प्रकार की होती हैं।

१— व्यन्जन स्वभाव पर्याय— किसी बाहरी निमित्त के बिना जो पर्याय हो उसे व्यन्जन स्वभाव पर्याय कहते हैं। जैसे— जीव की अन्तिम; शरीर से किंचित पुरुषाकार सिद्ध पर्याय। यह स्वभाव से होती है क्योंकि जब अष्ट कर्मों का नाश होकर बाद में निमित्त का अभाव हो जाता है तभी यह होनी है।

२— विभाव व्यन्जन पर्याय— किसी बाहरी निमित्त की सहायता से जो पर्याय हो उसे विभाव व्यन्जन पर्याय कहते हैं। जैसे— जीव की संसारी आदि पर्याये जो गति नाम कर्म के उदय से होती है।

८४— वस्तु का यथार्थ निर्णय जिसके माध्यम से होता है।

उत्तर— प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक हैं। इस अनेक धर्मात्मक वस्तु का यथार्थ निर्णय अनेकान्त या स्याद्वाद शैली के माध्यम से होता है।

प्रश्न ८५— अनेकाँत किसे कहते हैं। !

उत्तर —अनेकान्त शब्द की व्युत्पत्ति 'अनेक' एवं 'अन्त' इन दो शब्दो के सयोग से हुई है। 'अन्त' का अर्थ है 'धर्म सहित' इस तरह से अनेकान्त शब्द का अर्थ होता है 'परस्पर विरोधी धर्म'। अनेकान्त का तात्पर्य है कि प्रत्येक वस्तु परस्पर विरोधी अनन्त धर्मों का पुंज है। प्रत्येक धर्म अपने विरोधी धर्म के साथ एक ही समय में वस्तु में उपस्थित रहता है। अस्ति-नास्ति नित्य अनित्य आदि परस्पर विरोधी धर्म अविरोध रूप से एक ही समय मे वस्तु में एक साथ रहते है। अतः इससे स्पष्ट है कि वस्तु के समग्र स्वरूप को केवल समझा जा सकता है; उसे जाना जा सकता है किन्तु शब्दों में उसे प्रगट नहीं किया जा सकता। कारण स्पष्ट है क्योंकि प्रत्येक शब्द एक ही समय मे एक ही धर्म विशेष को व्यक्त कर सकता है। शब्द में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह वस्तु मे विद्यमान परस्पर विरोधी धर्मों को एक साथ, एक ही समय में व्यक्त कर सके। अतः किसी भी वस्तु का कथन करते समय उसके किसी एक धर्म को मुख्य एवं उसके विरोधी धर्म को गौण कर दिया जाता है उसका अभाव अस्वीकार नहीं किया जाता।

यही अनेकांत है इस तरह से कहा जा सकता है कि वस्तु में उपस्थित परस्पर विरोधी धर्मों मे से किसी एक को मुख्य उसके विरोधी धर्म को गौण कर देना, अनेकान्त है विरोधी धर्म अभाव रूप न होकर गौण रूप में होता है"।

हमारे व्यवहारिक जीवन में भी अनेकान्त का नित प्रति उपयोग होता है। प्रत्येक व्यक्ति सतत परिवर्तन होता हुआ आज किशोर कल युवक परसों जवान और फिर वृद्ध हो जाता है किन्तु इतना सब परिवर्तन होने के बाद भी वही रहता है जो पहले था और आगे रहेगा। निरन्तर परिवर्तित होते हुए भी 'मै' नित्य हूं यही तो अनेकाँत है।

प्र० ८६— स्याद्वाद किसे कहते हैं।

उत्तर— सापेक्ष कथन ही स्याद्वाद है । अनेकान्त धर्म का कथन करने वाली भाषा पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं ।

जब वस्तु के अनेकाँत धर्म को शब्दों में प्रगट करने का प्रयत्न किया जाता है तो समस्या उत्पन्न हो जाती है क्योंकि वस्तु में उपस्थित परस्पर विरोधी धर्मों को एक साथ शब्दो द्वारा कैसे कहें? शब्द तो अनेक अर्थवाची होकर भी एक प्रसंग में एक ही धर्म का विवेचन करने में समर्थ होता है अत: जैनाचार्यों ने इस अनेकान्त धर्म को व्यक्त करने के लिए स्याद्वाद शैली का प्रयोग किया चूंकि प्रत्येक शब्द एक समय में एक ही धर्म को कह सकता है । अत: उसी समय वस्तु में विद्यमान शेष धर्मों की उपस्थिति को दर्शाने के लिए उन्होंने 'स्यात' शब्द का उपयोग किया । स्यात का अर्थ होता 'कथंचित' अर्थात किसी समय विशेश मे अथवा 'शायद' आदि किसी अन्य अर्थ द्योतक नहीं है क्योंकि परस्पर विरोधी धर्म एक साथ एक ही समय मे वस्तु मे उपस्थित रहते हैं ।

इससे स्पष्ट है कि स्यात शब्द अनेकान्त का द्योतक है अत: स्याद्वाद अनेकाँत धर्म को प्रगट करने वाली भाषा पद्धति है । स्याद्वाद प्रत्येक कोने से सत्य को देखने की दृष्टि प्रदान करता है ।

प्र० ८७— स्याद्वाद के कितने अंग हैं ?

उत्तर— स्याद्वाद के सात अंग हैं । वस्तु के किसी धर्म के सापेक्ष कथन को अंग कहते है । प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक धर्म को अधिक से अधिक सात प्रकार से ही कहा जा सकता है । इसका कारण है कि उस वस्तु मे उस धर्म सम्बन्धी केवल सात प्रकार की ही जिज्ञासायें मन में उत्पन्न हो सकती है; अर्थात उस वस्तु के किसी भी धर्म का कथन अधिक से अधिक सात प्रकार

से ही किया जा सकता है इसलिये स्याद्वाद के सात भंग ही होते हैं। यथार्थ में देखा जाय तो प्रत्येक वस्तु में मूलतः तीन धर्म ही होते हैं।

१ स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्ति।
२ परचतुष्टय की अपेक्षा नास्ति।
३ स्व एवं परचतुष्टय की युगपत् विवक्षा की अपेक्षा अवक्तव्य

किन्तु जब इन्हीं तीन कथनों का विस्तार किया जाता है तो ये भंग सात हो जाते हैं। वे निम्न प्रकार है—

१ स्याद् अस्ति एव
२ स्याद् नास्ति एव
३ स्याद् अस्ति नास्ति एव
४ स्याद अवक्तव्य एव (अनिर्वचनीय)
५ स्याद् अस्ति अवक्तव्य
६ स्याद नास्ति अवक्तव्य
७ स्याद आस्ति नास्ति अवक्तव्य एव

प्रयेक भंग के साथ 'स्याद्' निदात लगाना अत्यन्त जरूरी है क्योकि ये सभी सापेक्ष कथन है। साथ ही एव (ही) का भी प्रयोग अनिवार्य है क्योकि उस अपेक्षा से वस्तु उस रुप ही है न कि किसी अन्य रुप। स्वामी समन्तभद्राचार्य ने तो युक्त्यनुशासन में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि 'अनुक्तुल्यं यदनेवकारं' अर्थात जिस कथन के साथ एव अर्थात ही नहीं है वह अनुक्तुल्य है अर्थात न कहे हुए के समान है। सात भंगो का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है—

१ स्याद अस्ति एव— प्रत्येक वस्तु स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की अपेक्षा अस्ति रुप ही है जैसे प्रत्येक जीव द्रव्य दृष्टि से नित्य ही है।

२ स्याद् नास्ति एव— प्रत्येक वस्तु पर द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की अपेक्षा से नास्ति रुप ही है। जैसे प्रत्येक जीव पर्याय दृष्टि से अनित्य ही है।

३ स्याद् अस्ति नास्ति एव-जब स्व चतुष्टय एवं पर चतुष्टय दोनों की अपेक्षा वस्तु का कथन किया जाता है तब वस्तु है भी और नहीं भी है इस तृतीय भंग की सिद्धि हो जाती है। जैसे जीव कथंचित नित्य ही है परन्तु पर्याय दृष्टि से जीव अनित्य ही है।

४ स्याद् अवक्तव्य एव— जब स्व चतुष्टय एवं परचतुष्टय दोनों को एक साथ लेकर अर्थात एक ही समय में, वस्तु का कथन किया जाता है, तब वह अनिर्वचनीय हो जाती है। अर्थात वस्तु के होते हुए भी उसका कथन संभव नहीं होता है; अतः इस चौथे भग की सिद्धि हो जाती है।

जैसे जीव स्याद् अवक्तव्य ही है क्योंकि वह पर्याय दृष्टि से अनित्य एवं द्रव्य दृष्टि से नित्य है किन्तु जब एक ही साथ दोनो दृष्टियो से कथन किया जाता है तो जीव अवक्तव्य हो जाता है।

५ स्याद् अस्ति अवक्तव्य एव — जब वस्तु का स्व चतुष्टय की अपेक्षा से एव उसी समय स्व एवं पर दोनो चतुष्टयो की अपेक्षा से कथन किया जाता है तो वह अस्ति अवक्तव्य हो जाती है क्योकि स्वचतुष्टय स वस्तु अस्ति रुप ही है, किन्तु उसी समय मे स्व एवं पर दोनों चतुष्टयों की अपेक्षा से वह अवक्तव्य ही है। इस तरह से पांचवे भंग की सिद्धि हो जाती है।

जैसे जीव द्रव्य दृष्टि से नित्य ही है किन्तु द्रव्य एवं पर्याय दोनों दृष्टियों को एक साथ लेने पर वह अवक्तव्य ही है। अतः इन दोनों को एक साथ लेने पर जीव नित्य एवं अवक्तव्य ही है।

६— स्याद् नास्ति अवक्तव्य एव— जब वस्तु का पर चतुष्टय की अपेक्षा से एवं उसी समय स्व एवं पर दोनों चतुष्टयों की अपेक्षा से कथन किया जाता है, तो वह नस्ति अवक्तव्य ही हैं। इस तरह से छठवे भंग की सिद्धी हो जाती है।

जैसे जीव पर्याय दृष्टि से अनित्य ही है किन्तु द्रव्य एवं पर्याय दोनो दृष्टियो को एक साथ लेने पर वह अवक्तव्य ही है। अत: इन तीनों को एक साथ लेने पर जीव अनित्य एवं अवक्तव्य ही है।

७— स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य एव — जब एक वस्तु का स्व चतुष्टय की अपेक्षा से उसी समय पर चतुष्टय की अपेक्षा से एवं उसी समय दोनों स्व एवं पर चतुष्टय की अपेक्षा से कथन किया जाता है तो वस्तु अस्ति नास्ति अनिर्वचनीय ही है। क्योंकि वह स्वचतुष्टय से अस्ति रुप एवं पर चतुष्टय की अपेक्षा से नास्ति रुप ही है; तथा दोनो चतुष्टयों को एक साथ ग्रहण करने से वह अनिर्वचनीय ही है। इस तरह से सातवे भंग की सिद्धि हो जाती है जैसे—

जीव द्रव्य दृष्टि से नित्य ही है।
जीव पर्याय दृष्टि से अनित्य ही है।

दोनों को एक साथ लेने पर अनिर्वचनीय ही है। अतः तीनो को एक साथ ग्रहण करने पर जीव अस्ति नास्ति एवं अनिर्वचनीय ही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि स्यादवाद के सप्त भंग किसी कपोल कल्पना पर आधारित नहीं है बल्कि मानव मन की तर्क मूलक प्रवृति को सम्पूर्ण रूप से समाधान करने के लिये जैन दर्शन को सुपरीक्षित वैज्ञानिक देन है, जिसमें मानव की तर्क मूलक प्रवृत्ति को सम्पूर्ण रुप मे समझा गया है।

प्र० ८८- सप्त भंगों का ज्ञान आवश्यक क्यों है ?

उत्तर— सप्त भंगों के समझे बिना किसी भी वस्तु के किसी भी धर्म का पूर्ण रूप से कथन नहीं किया जा सकता। अतः वस्तु के किसी भी धर्म के यथार्थ पूर्ण कथन के लिये सातों ही भंगो का समझना अत्यन्न आवश्यक है ।

प्र० ८९- एकान्त किसे कहते हैं !

उत्तर— वस्तु मे रहने वाले परस्पर विरोधी धर्मों मे से किसी एक धर्म रुप ही समग्र वस्तु को मान लेना उसके विरोधी धर्म की उपेक्षा कर उसे अभाव रुप बतलाना एकान्त कहलाता है । जैसे आत्मा को सदाकाल ज्ञाता द्रष्टापूर्ण शुद्ध ही मानना अथवा आत्मा को पूर्णतः संसारी ही मानना । केवल उपादान से ही कार्य होता है, निमित्त कुछ नहीं करता वह अकिंचित्कर है, ज्ञान ही मोक्ष का कारण है; चारित्र पालन से कुछ नहीं होता, इन सभी एवं ऐसे ही दुराग्रहों को एकान्त कहते हैं । इन एकान्तों को मानने वालों को आचार्यो ने वस्तु स्वरूप से अनभिज्ञ एवं अनन्त सँसारी कहा है ।

प्र० ९०— अपने आप को सिद्धों के समान भगवान ही मानने वाले कौन हैं !

उत्तर— अपने आपको सिद्धों के समान भगवान ही मानने वाले अज्ञानी हैं क्योंकि अभी तो प्रत्यक्ष संसारी हैं किन्तु भ्रम से अपने को सिद्ध मानते हैं ।

यद्यपि आगम मे आत्मा को सिद्ध समान कहा गया है, वह द्रव्यदृष्टि अर्थात आत्मा के वास्तविक निराकरण शाश्वत स्वभाव की अपेक्षा कहा गया है न कि पर्यायदृष्टि से । पर्याय दृष्टि से तो यह जीव कर्म रज से मलिन होकर अपने शुद्धज्ञाता द्रष्टा स्वभाव को भूलकर चतुर्गति रुप संसार में भ्रमण कर रहा है।

अतः जो पर्याय दृष्टि से भी स्वयं को सिद्धों के समान ही मानता हो, तो वह नियम से मिथ्यादृष्टि ही है। जैसे राजा एवं रंक मनुष्यपने की दृष्टि से एक समान है किन्तु यदि इस दृष्टि से एक समान हैं; किन्तु यदि इस दृष्टि से रंक अपने को प्रत्यक्ष रूप से राजा के समान ही मानने लगे तो इससे ज्यादा महा मूर्ख कौन होगा । पंडित टोडरमल जी ने "मोक्षमार्ग प्रकाशक" में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि जो रागादिक होते हुये आत्मा को उनसे रहित मानते हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना।

(पेज नंबर १६७)

प्र० ९१– कर्मों का आत्मा के ऊपर कुछ भी असर नहीं होता? ऐसा कहने वाले कौन हैं ?

उत्तर — आत्मा पर कर्मों का कुछ भी प्रभाव नहीं पडता ऐसा मानने वाले भी एकान्तवादी हैं ।

इसका कारण स्पष्ट है, क्योंकि यदि ऐसा होता है, तो आपके फिर रागद्वेषादि भाव क्यों उत्पन्न हो रहे हैं या कर्म के उदय का निमित्त पाकर उत्पन्न हो रहे हैं । यदि आप कहते हैं कि आत्मा में विद्यमान वैभाविक शक्ति के कारण उत्पन्न हो रहे हैं । तो सिद्ध भगवान के भी वह शक्ति विद्यमान है फिर उनके रागद्वेषादि भाव क्यों नहीं उत्पन्न होते, और आत्मा तो स्वभाव शक्ति से केवलज्ञान युक्त है । फिर क्या कारण है कि आपके तो जरा सा भी ज्ञान दिखाई देता है । यदि कर्मों का आत्मा के ऊपर कुछ भी असर नहीं होता है तो क्यों नहीं आपके भी केवलज्ञान हो जाता है एवं फिर सम्यग्दर्शन ज्ञान तथा चारित्र के प्राप्त करने का जो उपदेश दिया जाता है वह किस लिये ! यह तो स्पष्ट रूप से सिद्ध करते हैं कि कर्म का आत्मा के ऊपर असर पडता है इसलिए उन कर्मों को समाप्त करने लिए ही यह पुरुषार्थ किया जा रहा है ।

प्र० ९२— मात्र उपादान से ही कार्य होता है, निमित्त तो अकिंचित्कर है, ऐसी मान्यता वालों को आचार्यों ने क्या कहा है !

उत्तर— मात्र उपादान से ही कार्य होता है। निमित्त तो अकिंचित्कर है ऐसा मानने वाले एकान्तभासी हैं —

यह प्रत्यक्ष देखने मे आता है कि बिना निमित्त के किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती यद्यपि निमित्त स्वयं कार्यरुप नहीं बदलता परिणमन उपादान में ही होता है किन्तु कार्य की उत्पत्ति में सहायक अवश्य होता है जैसे पानी बादल से ही बरसता है किन्तु उन बादलो की उत्पत्ति में अर्थात जमी के पानी के भाप रुप में बदलकर बादल रुप बनने में सूर्य की किरणे (किसी न किसी प्रकार का ताप) नियम रुप से सहायक है।

निमित्त अकिंचित्कर नहीं है। कार्य उत्पन्न होने रुप उपादान की योग्यता होने पर निमित्त होगा ही होगा, ऐसा भी एकान्त नहीं है, क्योंकि पुरुष मे पुत्रोत्पत्ति की सामर्थ्य होने पर भी बिना पत्नि के यह सम्भव नहीं है।और इसके लिए प्रयत्न पूर्वक शादी करनी ही पडती है।

प्र० ९३ क्रियारहित ज्ञान मात्र से मोक्ष माननेवालों को आचार्यों ने क्या कहा है !

उत्तर— क्रिया रहित ज्ञान मात्र से मोक्ष मानने वालों को आचार्यों ने एकान्त वादी अज्ञानी कहा है।

आचार्यो ने मोक्षमार्ग की व्याख्या करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि सम्यकदर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः। अर्थात सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यकचारित्र की एकरूपता ही मोक्ष मार्ग है। इसमें स्पष्ट शब्दों में सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यग्दर्शन एवं सम्यकचारित्र का उल्लेख किया है और यह सम्यकचारित्र

[illegible] क्रिया के साधन के होता ही नहीं है । इसकी उत्पत्ति के लिए दिगम्बर मुद्रा रुप महाव्रत धारण एवं उनके पद के अनुरुप समस्त आचरणों अर्थात क्रियाओ का सम्यक् परिपालन अनिवार्य ही है । इसलिए क्रिया रहित ज्ञान से ही मोक्ष मानने वाले त्रिकाल में भी मोक्ष नहीं पा सकते । केवल मंजिल के देखने या जानने से मंजिल पर पहुंच नहीं सकते और न बिना जाने किसी भी राह पर चलने से मंजिल पर पहुंच सकते है, बल्कि मंजिल के सही ज्ञान होने उस पर जाने वाले मार्ग पर चलने से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। अतः किसी भी प्रकार के एकान्त को मानना श्रेयस्कर नही है, अज्ञान तथा संसार की पुष्टि है ।

प्र० ६४– सम्यग्दृष्टि के शुभभाव अर्थात दान, पूजा, दया, शील अणुव्रत, महाव्रत, आदि को परम्परा से मोक्ष का कारण न मानकर मात्र ससार के ही कारण, माननेवालों को आचार्यों ने क्या कहा है ।

उत्तर— परम्परा से भी सम्यग्दृष्टि के शुभ भावों को मोक्ष का कारण न मानकर संसार का कारण ही मानने वालों को आचार्यों ने एकान्त वादी हठ ग्राही अज्ञानी एवं प्रमादी अनन्त ससार कहा है ।

इसकी व्याख्या करने के पहले हम शुभ भाव के कुछ पर्यायवाची शब्दों को लेना चाहेंगे ।

प्रवचन सार गाथा २३० की टीका में शुभभाव के कुछ पर्यायवाची नाम दिये हैं जो इस प्रकार हैं:–

अपहृत संयम सराग, चारित्रं शुभोपयोग इति यावदेकार्थः

अर्थात अपहृत संयम; सरागचारित्र और शुभोपयोग ये एकार्थवाची शब्द हैं । इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि

शुभ भाव सम्यग्दृष्टि के ही संभव हैं। क्योंकि सरागचरित्र उसी के होता है मिथ्यादृष्टि के नहीं; तथा पुण्यभाव से अर्थात शुभ भाव से जहां पुण्य कर्म का बंध होता है वही संवर और निर्जरा भी होती है जो साक्षात मोक्ष का कारण है। श्री वीरसेनाचार्य ने स्पष्ट शब्दों मे शुभभाव से संवर और निर्जरा होने का उल्लेख किया है।

"सुह सुद्ध'परिणामेहि कम्मक्खया भावे तक्खयाणुवत्तीदो"
(जयधवल पु- १ पृ- ६)

अर्थात शुभ व अशुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मो का क्षय हो ही नही सकता। तथा कुन्दाकुन्दाचार्य ने भी रमणसार में कहा है कि–

पूयाफलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्ध मणो।
दाण फलेण तिलोए सारसुहं मुंजदि णियदं ॥१४॥

अर्थात यदि कोई शुद्धमन से अर्थात इन्द्रिय सुख की अभिलाषा से रहित होकर जिनपूजा करता है तो उस पूजा रुप शुभभाव का फल तीन लोक से पूजित अरहंत पद है। और दान रुप शुभभाव का फल तीन लोक का सार अर्थात मोक्ष का सुख परम्परा से मिलता है। तथा उत्कृष्ट पुण्य बँध के बिना मोक्षमार्ग के योग्य उत्तम संहनन, उच्च—गोत्र आदि सामग्री नही मिल सकती। प्रवचन सार की ४५वी गाथा में कुन्दाकुन्दाचार्य ने लिखा है कि–

'पुण्ण फला अरहंना'

इसलिए जो सम्यग्दृष्टि के शुभ भावों को भी संसार का ही कारण स्वीकार करते हैं, परम्परा से भी मोक्ष का कारण नहीं मानते वे आगम से अनभिज्ञ, हठग्राही, एकान्तवादी हैं।

प्र० ६५— वर्तमान में सच्चे मुनिराज व त्यागी, व्रती, नहीं हैं ऐसा कहने वाले कौन हैं?

प्र० ९५– वर्तमान में सच्चे मुनिराज व त्यागी व्रती नहीं है ऐसा कहने वाले कौन है।

उत्तर– वर्तमान मे सच्चे मुनिराज व त्यागी व्रती नहीं हैं ऐसा कहने वाले जैनाभासी अर्थात जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को न मानने वाले असत्य ग्राही, हठी मानी पुरुष हैं।

इसका कारण स्पष्ट है कि वर्तमान समय मे जितने भी मुनिराज एवं त्यागी व्रती हैं उनमें से सभी यथाशक्ति आगमनुसार अपने चारित्र रुप धर्म का सम्यक् परिपालन करने वाले हैं। यद्यपि कारणवश उनके उस चारित्र पालन मे अतिचार आदि लगते रहते है। किन्तु मात्र इतना होने पर ही वह अपने चारित्ररुप आचरण में पतित नहीं हो जाते। अभी भी आचार्य विद्यासागर जैसे महान निस्पृह, स्वसमय एवं पर समय विज्ञ आचार्य विद्यमान हैं, जिनके शान्त स्वरूप की स्मृति एवं दर्शन मात्र से ही चचल मन मे वैराग्य की सरिता प्रवाहित होने लगती है। उनका निर्दोष चारित्र पालन आज भी हमें उस चतुर्थकाल वर्ती उत्तम संहनन के धारी मुनियो के चारित्र का स्मरण कराता है

अत: वर्तमान मे सच्चे मुनिराज एवं त्यागी व्रतियों के अस्तित्व को पूर्णतः अस्वीकार करने वाले अवश्य ही दीर्घ ससारी हैं, स्वरूप विमुख एवं सम्यग्चारित्र घाती है।

प्र० ९६— जैन धर्म किसे कहते हैं!

उत्तर– जिन—जितेन्द्रिय—वीतराग सर्वज्ञ देव के द्वारा प्रतिपादित धर्म को जैनधर्म कहते हैं।

'जैन' शब्द 'जिन' शब्द से उत्पन्न हुआ है। 'जिन' शब्द का अर्थ होता है जीतने वाला। चूंकि जिन शब्द रुढ़ अर्थ में ही प्रचलित है और इस रुढ़ अर्थ मे उसका अर्थ होता है इन्द्रियों को जीतने वाला। इन्द्रिय का अर्थ होता है पॉच इन्द्रिय +मन। अत: जिन्होंने पूर्ण रुप से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर

ली अर्थात मन वचन एवं काय के योग (प्रवृति) का सम्पूर्ण: से निरोध कर लिया है उन्हें 'जिन' कहते हैं। और जो 'जिन' के मार्ग का अनुगमन करें वे जैन' कहलाते हैं एवं जिस मार्ग का अनुगमन करने से हम भी 'जिन' बन सकें वह है जैनधर्म।

प्रत्येक मानव जो सत्य की ओर उसके अन्वेषण की जिज्ञासा से अपने कदम बढ़ा रहा है, उसे सबसे पहले अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है। पांच इन्द्रियाँ एवं उनका राजा (Controlling chamber) मन जब तक बे लगाम हैं; तब तक सत्य की राह पर चला नहीं जा सकता। अतः जैन शब्द 'विकार विजयी, का द्योतक है और जैसे ही मानव विकार विजयी बनता है उसी समय वह आत्म जयी भी बन जाता है।

अतः आत्म जयी अर्थात आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति कराने वाला धर्म जैनधर्म कहलाता है।

प्र० ९७-- हम सच्चे जैन कहलाने के पात्र कब बनेंगे ?

उत्तर— हम सच्चे जैन कहलाने के पात्र जब बनेंगे, जब हम जिनेन्द्र भगवान की आज्ञानुसार अपना आचरण करेंगे और उनकी वाणी पर दृढ़ श्रद्धा करते हुए अहिंसा धर्म को मानव मात्र तक पहुंचाने का दृढ़ प्रयत्न करेंगे तब हम सच्चे जैन कहलाने के पात्र बनेंगे।

९८- हमारे वास्तविक शत्रु कितने है ?

उत्तर— हमारे वास्तविक शत्रु ग्यारह हैं— हिंसा; झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह. यह पांच पाप, अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ यह चार कषाय और इन सबका कारण राग द्वेष। इन सबसे अगर बचने का उपाय किया जाय तो सम्भव है जीवन में सुख शाँति की लहर, इन ग्यारह शत्रुओं को अभी तक मित्र मानते आए हैं अपना यही कारण है इनसे मुक्ति न मिलने का

अपने स्वभाव की ओर दृष्टिपात करने में सहज में इनसे मुक्त हो सुख की प्राप्ति की जा सकती है।

९९– संसार में प्रेम किससे करना चाहिए ?

उत्तर— संसार मे रहते हुए यदि प्रेम ही करना है तो धर्म और धर्मात्माओं से अर्थात सम्यग्ज्ञान प्रदाता गुरु वीतरागता की ओर इंगित करने वाले धर्म, और भव नाशक भगवान से प्रेम करके अपने त्रिकाली स्वभाव मे प्रेम करना चाहिए। ताकि अपने अन्दर विराजमान अनन्त गुणों से मण्डित भगवान के दर्शन हो सकें।

प्र० १००– हममें और भगवान में क्या अन्तर है ?

उत्तर— हममें और भगवान में केवल शक्ति की प्रगटता एवं शक्ति की अप्रगटता का ही अन्तर है। भगवान ने पुरुषार्थ से स्वयं मे से कर्म रज को अलग कर दिया है किन्तु हम अभी ऐसा नहीं कर पाये हैं जिसके कारण ही चतुर्गति रुप संसार मे परिभ्रमण कर रहे हैं। जिस दिन हम भी कर्म रज को पूर्ण रुप से अपने से प्रथक कर देंगे उसी समय हम भी भगवान वन जायेगे। तब हममे और भगवान में कोई अन्तर नहीं रहेगा।

अत. हमारा कर्त्तव्य है कि भगवान बनने के मार्ग पर चलें, जिससे हम भी एक दिन भगवान वन सके।

प्र० १०१- संसार और मोक्ष सुख में क्या अन्तर है ?

उत्तर— रागी पुरुष को संसार में जो सुख होता है वह क्षणिक है इस सुख के पीछे दुःख छिपा हुआ है और मोक्ष सुख वह है जो स्थाई है जिसका कभी अन्त ही नहीं है, अतः संसार और मोक्ष सुख में प्रकाश और अन्धकार के समान अन्तर है। अगर हम यहा उस सुख को समझना चाहते हैं; तो विषय कषाय से मुक्त होकर वीतराग भावों के साथ एकान्त स्थान में आसन लगाकर ध्यान करे और निर्विकल्प बनकर आत्म चिन्तवन करें तब आँशिक सुख की एक झलक सहसा ही उद्वेलित हो उठेगी अन्तर आत्मा मे।

"ॐ शाँति"